दायित्वबोध

त्रैमासिक
अक्टूबर 2001-मार्च 2002
पन्द्रह रुपये

अफगानिस्तान और उसके बाद

यह युद्ध साम्राज्यवादी विस्तार के लिए

दक्षिण एशिया में अमेरिकी साम्राज्यवाद की चुनौती

जनता की सुरक्षा के लिए जरूरी क्या है?

एन.जी.ओ. : साम्राज्यवाद के चाकर

वास्तविक पूंजीवाद की असलियत

'तीसरी श्रेणी' के बारे में : लू शुन

पुरातन और नवीन का संघर्ष : हर्ज़ेन

नया वर्ष
नई यात्रा के लिए उठे
पहले कदम के नाम
सृजन की नई परियोजनाओं के
नाम
बीजों और अंकुरों के नाम
कोंपलों और फुनगियों के नाम
उड़ने को आतुर
शिशु पंखों के नाम

'दायित्वबोध' के सभी पाठकों, सहयोगियों, मित्रों, शुभचिन्तकों को नव वर्ष की शुभकामनाएं
आइये, नये संघर्षों और नई चुनौतियों से भरी राह पर मिलकर नये संकल्पों के साथ आगे बढ़ें!

16

दक्षिण एशिया में अमेरिकी साम्राज्यवाद की चुनौती

भारत के बाजार पर अमेरिका की निगाह पहले से ही जमी हुई है और वहां की बहुराष्ट्रीय कम्पनियां यहां जिस तरह का शोषण कर रही हैं उससे सभी परिचित हैं। आज अमेरिका को भारत का बाजार भी चाहिए और अरब देशों का तेल भी। इसीलिए उसे भारत भी चाहिए और पाकिस्तान भी। लेकिन उसकी यह चाहत हमारे लिए कितनी बड़ी मुसीबत साबित होने जा रही है, इस पर ध्यान देना जरूरी है।

आनन्द स्वरूप वर्मा की कलम से

12

यह युद्ध साम्राज्यवादी विस्तार के लिए है

तथाकथित ''आतंकवाद के विरुद्ध युद्ध' को इस क्षेत्र के ऊर्जा संसाधनों को नियंत्रित करने के कदमों की पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए। कैस्पियन सागर और मध्य-एशिया के अनछुए तेल भण्डारों तक तेल और गैस पाइपलाइन बिछाने और चीन, रूस, ईरान और भारत जैसे वर्तमान और सम्भावनासम्पन्न विरोधियों के बरक्स रणनीतिक फायदों के रूप में देखा जाना चाहिए। **गौतम नवलखा** द्वारा विस्तृत विश्लेषण

एन.जी.ओ. साम्राज्यवाद के चाकर

शासक वर्ग अपनी सत्ता, मुनाफे और विशेषाधिकारों की हिफाजत के लिए राज्यतंत्र और सामाजिक संस्थाओं पर निर्भर करते रहे हैं। ...हाल के दशकों में एक नई सामाजिक संस्था उभरी है जो नियंत्रण और वैचारिक भ्रमजाल फैलाने के उसी काम को बखूबी पूरा कर रही हैये हैं तथाकथित ''गैर सरकारी संस्थाएं'' (एन. जी.ओ.यह नाम भी इन्होंने ही खुद को दिया है)। आज कम से कम 50,000 एन.जी.ओ. (और उनकी अनगिनत शाखाएं- प्रशाखाएं-उपशाखाएंसं.) पूरी तीसरी दुनिया में छाये हुए हैं और अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं, यूरोपीय, अमेरिकी तथा जापानी सरकारी एजेंसियों तथा स्थानीय सरकारों से फंड के रूप में कुल 10 अरब डालर से अधिक प्राप्त कर रहे हैं।

52

जनता की सुरक्षा के लिए जरूरी क्या है?

जनता की सुरक्षा के नाम पर शासक वर्ग जनसंघर्षों से अपनी सुरक्षा का इन्तजाम कर रहे हैं, दमनतंत्र मजबूत बना रहे हैं और युद्धोन्माद भड़काकर सेना पर बेतहाशा खर्च कर रहे हैं।

गौतम नवलखा का विचारोत्तेजक लेख

20

इस अंक में

आपकी बात 4

अपनी बात

अफगानिस्तान और उसके बाद 5

विशेष लेख

यह युद्ध साम्राज्यवादी विस्तार के लिए है *गौतम नवलखा* 12

दक्षिण एशिया में अमेरिकी साम्राज्यवाद की चुनौती *आनन्द स्वरूप वर्मा* 16

जनता की सुरक्षा के लिए जरूरी क्या है? *गौतम नवलखा* 20

नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) और संयुक्त क्रान्तिकारी जन परिषद, नेपाल की ओर से अन्तरराष्ट्रीय समुदाय से अपील 31

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज

सर्वहारा अधिनायकत्व के सिद्धान्त का भली-भांति अध्ययन करो 33

लेख

जब पूर्णिया के ग्रामीण क्षेत्र में अर्धसामन्ती व्यवस्था की मुठभेड़ बाजार से हुई *गैरी रोजर / जेनी रोजर* 35

वास्तविक पूंजीवाद की असलियत *माइकल डॉसन/जॉन बेलेमी फॉस्टर* 44

एन.जी.ओ. : साम्राज्यवाद के चाकर *जेम्स पेत्रास और हेनरी वेल्तमेयर* 52

एन.जी.ओ. की सैद्धान्तिकी और व्यवहारशास्त्र के बारे में हमारी समझ कैसे बनी? *मीनाक्षी/शाकम्भरी* 60

संस्कृति चिन्तन

'तीसरी श्रेणी' के बारे में

'तीसरी श्रेणी' के बारे में कुछ और बातें *लू शुन* 65

साहित्य

पुरातन और नवीन का संघर्ष *अलेक्सान्द्र हर्ज़ेन* 67

टिप्पणी

युद्धोन्माद के बीच पोटो *ललित* 69

भविष्य अनागत है। हजारों प्रकार की परिस्थितियांजो अनिवार्य हैं वे भी, और जो आकस्मिक हैं, वे भीसाथ में मानव की इच्छा और आकांक्षायें, जो अप्रत्याशित उलट-फेरों तथा नाटकीय घटनाओं को जन्म देती हैंसमग्र रूप में ये सब अनागत का निर्माण करती हैं। इतिहास विकास करता है, किन्तु अपने को दोहराता कभी नहीं। हर अवसर से वह लाभ उठाता है, एक साथ सहस्रों द्वारों को वह खटखटाता है। और, कोई नहीं कह सकता कि ये द्वार खुलेंगे या बन्द रहेंगे!

अलेक्सान्द्र हर्ज़न

दायित्वबोध

संयुक्तांक वर्ष–8 अंक–2–3
अक्टूबर 2001–मार्च 2002

सम्पादक मण्डल :
विश्वनाथ मिश्र
अरविन्द सिंह
ओमप्रकाश सिन्हा

सज्जा : **रामबाबू**

आवरण का चित्र :

सम्पादकीय कार्यालय :
81, समाचार कार्यालय, मयूर विहार-एक, दिल्ली - 110 091 फोन : (011) 2711136
email: dayitvabodh@rediffmail.com

एक प्रति : 15 रुपये
वार्षिक : 60 रुपये (डाक व्यय 12 रुपए अतिरिक्त)
आजीवन : 1000 रुपये

●

सम्पादन एवं संचालन
पूर्णतः अवैतनिक एवं अव्यावसायिक

कम्पोजिंग : **कम्प्यूटर प्रभाग,**
राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ-226 010

स्वत्वाधिकारी विश्वनाथ मिश्र द्वारा एम. आई.जी. 134, राप्तीनगर फेज-एक, गोरखपुर से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा आफसेट प्रेस, नखास, गोरखपुर से मुद्रित

आपकी बात

'दायित्वबोध' का जुलाई-सितम्बर 2001 पढ़ा। मैं शुरू से ही औसतस्तरीय विद्यार्थी रहा हूं लेकिन जब से मैंने 'दायित्वबोध' का यह अंक पढ़ा है, मेरी सोच में बदलाव आ रहा है। जानकारी में इजाफा हुआ है।

मैंने इसी अंक में क्रान्तिकारी लोक स्वराज अभियान के बारे में पढ़ा। मैं इसके बारे में और जानकारी चाहता हूं। मैं एक अच्छे संगठन से जुड़ना चाहता हूं जो वाकई समाज को बदलने की दिशा में काम कर रहा हो।

मैंने अध्ययन को अपनी आदत में शामिल कर लिया है। परन्तु बहुत सी चीजें हैं जो मेरी समझ में नहीं आतीं। जैसे, साम्यवाद-समाजवाद का अन्तर।

संदीप शर्मा, बंगाली मार्केट, नई दिल्ली

देश और विश्व की वर्तमान ज्वलंत समस्याओं का मार्क्सवादी-लेनिनवादी दृष्टिकोण से बहुत अच्छा विश्लेषण 'दायित्वबोध' के माध्यम से प्रस्तुत किया जा रहा है। इस अथक प्रयास के लिए आप सभी को बहुत-बहुत धन्यवाद के पात्र हैं। इसी कारण मैं निरन्तर पत्रिका के इन्तजार में रहता हूं। आज का मुख्य संकट वैश्वीकरण की उदार आर्थिक नीतियों के द्वारा साम्राज्यवादी हितों की रक्षक बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा की जा रही लूट है। यह मजदूर, किसान, छात्र, बुद्धिजीवी सभी को शोषण के शिकंजे में कस रही है। यह कैसे हो रहा है? चीन तथा वियतनाम की व्यवस्थाएं भी इस वैश्वीकरण की नीति पर चलने के लिए क्यों बाध्य हो रही हैं? इसके सटीक विश्लेषण की आज बहुत आवश्यकता है।

लक्ष्मी नारायण मिश्र, उदयपुर, राजस्थान

मैंने अपने मित्र के निवास पर आपकी पत्रिका देखी, पढ़कर लगा कि जो बेबाक टिप्पणी हर विषय पर 'दायित्वबोध' में थी, अन्य साहित्यिक पत्रिकाओं में देखने को बहुत कम मिलती है।

लोकेश शर्मा, गुना (म.प्र.)

एक विचारोत्तजेक पत्रिका 'दायित्वबोध रूपी आन्दोलन से जुड़ने हेतु मार्गदर्शन करें। 'दायित्वबोध' प्राप्त करने हेतु मुझे क्या करना होगा।

निमिष कुमार, गांधी विहार, दिल्ली

दायित्वबोध, जुलाई-सितम्बर 2001 मिला। अपनी प्रतिबद्धता, प्रगतिशील सोच और वैचारिक ऊर्जा में उल्लसित और योजनाबद्ध। घोटालों और आर्थिक नीतियों की कलई खोलता यह अनिवार्य अंक 'दायित्वबोध' की स्तरीयता के अनुकूल बन पड़ा है। लू शुन के गद्यगीतों ने अंक को गरिमा और अधिक साहित्यिक अर्थवत्ता दी है।

डा. रामेश्वर द्विवेदी, नई दिल्ली

'दायित्वबोध' नियमित मिल रहा है। अंक सदैव जानकारी भरे रहे हैं। मुझे तो लगता है कि परिवर्तनकामी सोच के प्रति जहां हताश, निराश, पस्त व त्रस्त बुद्धिजीवियों की जमात बढ़ी है वहीं अब भी लोग हैं जिनके पास आशा के स्रोत व साधन हैं। दरअसल, पूंजीवादी साम्राज्यशाही के बहुरंगी रूपों से वही हताश हैं जिन्हें अपने जीवनकाल में ही सब कुछ देख लेने की घृणित वासनायें रही हैं। हकीकत में शब्दों के शीतयुद्धों से वे कभी बाहर निकले ही नहीं, बहुत हुआ तो सेमिनार, गोष्ठी आदि के विज्ञापनी कर्मकाण्डों में तर्कों के हथियारों को आजमा लिया। गांव का आदमी हताश नहीं है, भले ही वह जात-पांत, धर्म के पचड़ों से बाहर नहीं है, पर उसे चिन्ता है कि वह मनुष्यों की कतार में पीछे क्यों धकेला जा रहा है।

रामनाथ शिवेन्द्र, संपादक, 'असुविधा', सोनभद

आप लोग समाजरूपी ओपन जेल में रहकर बहुत बारीकी से इस वर्तमान व्यवस्था की जड़ हिलाकर कमजोर कर रहे हैं। अब इन्तजार है कि भारत के सभी सच्चे क्रान्तिकारी संगठन एक सूत्र में बंधकर 'नवजनवादी क्रान्ति' को आगे बढ़ाते हुए सच्ची आजादी प्राप्त करें। तभी मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा का उद्देश्य पूरा होगा।

सुरेन्द्र पासवान, केन्द्रीय कारा, बक्सर

अपनी बात

अफगानिस्तान और उसके बाद

11 सितम्बर की घटना और उसके बाद जो घटनाक्रम विकसित हुआ है उसके अनेकानेक अभिप्राय और निहितार्थ निकाले जा रहे हैं। कुछ के लिए यह मानवता के समक्ष उपस्थित होने वाले और भी भयावह संकटों की अनिष्ट सूचना है और कुछ लोगों के लिए साम्राज्यवाद के वर्तमान दौर में जारी विनाशकारी युद्धों पर गहन-गम्भीर चिन्तन-मनन में डूब जाने का मसाला मिल गया है। बहरहाल, यह तो निर्विवाद है कि इक्कीसवीं सदी के पहले वर्ष ने ही आने वाले दशक के संकटों का पूर्वाभास करा दिया है।

वर्ल्ड ट्रेड सेण्टर और पेंटागन की इमारतों के मलबे पर खड़े होकर अमेरिकी साम्राज्यवाद ने ''अन्तरराष्ट्रीय आतंकवाद'' के खिलाफ जो गोलबन्दी की है उसके नतीजों से वह फिलहाल सन्तुष्ट हो सकता है। फिलहाल माना जा रहा है कि तालिबान-ओसामा बिन लादेन की चुनौती खत्म हो चुकी है। अब हामिद करजई की अन्तरिम सरकार की छांह में काबुल-कन्धार की ध्वस्त सड़कों-अस्पतालों-स्कूलों-सरकारी इमारतों को फिर से बनाने के लिए, बिजलीघरों को फिर से खड़ा करने के लिए, हवाई अड्डों से लेकर सूचना-संचार प्रणाली आदि इन्फ्रास्ट्रक्चर फिर से खड़ा करने के लिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के प्रतिनिधियों के रेले उमड़ पड़े हैं। साम्राज्यवाद के मौजूदा दौर में विशिष्ट बन चुके सेवा-क्षेत्र और मुद्रा-कारोबार के अन्तरराष्ट्रीय खिलाड़ियों की कवायदें भी शुरू हो चुकी हैं। साथ ही, युद्ध से तबाह-बरबाद अफगानी जनता की सेवा के नाम पर अपने साम्राज्यवादी आकाओं की सेवा में एन.जी. ओ. नामधारी ''अलाभकारी क्षेत्र'' के खैरातिये भी अपना-अपना शटर खोलकर जमना शुरू हो चुके हैं। यानी, अब वह सब शुरू हो चुका है जो साम्राज्यवादी ताकतें युद्ध के तत्काल बाद करती हैंअपने दूरगामी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए योजनाओं के ब्लू प्रिण्ट बनाये जा रहे हैं। ''पुननिर्माण'' के नाम पर दुरभिसन्धियों की सरगर्मियां शुरू हो चुकी हैं। लेकिन यह सब कुछ ''घर्षण रहित'' हो रहा हो, ऐसा भी नहीं है। हो भी नहीं सकता। आपसी खींचतान और झगड़ों के संकेत भी अभी ही दीखने लगे हैं।

फिर भी, 11 सितम्बर के बाद सभी साम्राज्यवादी डाकुओं की एकता का जो स्वर प्रमुख रूप से उभरा है, उसके कारण बेहद साफ हैं। दरअसल, वर्ल्ड ट्रेड सेण्टर की इमारत अमेरिकी वित्तीय पूंजी की शक्तिमत्ता का स्मारक थी और पेंटागन मुख्यालय उसकी सामरिक प्रभुता का प्रतीक चिह्न। इन दोनों के धराशायी होने से अमेरिकी उद्धत अहम्मन्यता का गुब्बारा तो पंक्चर हुआ ही था, उसके अन्य पश्चिमी बिरादर भी अकबका से गये थे। सो, यह स्वाभाविक आपद्-धर्म था कि अपने सरकार के ''गम'' में शरीक होते।

लेकिन साम्राज्यवादी डाकुओं की यह एकजुटता आपद्-धर्म का निर्वाह ही नहीं है। खुद अपने ही पैदा किये भस्मासुर से निपटने के बहाने अमेरिकी साम्राज्यवादियों ने जो रणनीति बनायी उसमें अन्य पश्चिमी बिरादरों के हित भी पूरे होते नजर आ रहे थे। अफगानिस्तान के खिलाफ इस विनाशकारी युद्ध के आर्थिक पहलुओं पर अमेरिका ही नहीं सभी साम्राज्यवादियों की निगाहें टिकी थीं। कैस्पियन सागर के अनछुए अपार तेल भण्डारों पर कब्जा जमाने का सवाल हो या उजबेकिस्तान-ताजिकिस्तान -तुर्कमेनिस्तान के रास्ते यूरोप और दक्षिण एशिया के बाजार तक पहुंच के लिए पाइप लाइन बिछाने का सवालइस युद्ध में फिलहाल अमेरिका के साथ खड़े होकर ही अन्य साम्राज्यवादी देश भी बांट-बखरे के लिए मैदान में उतर सकते थे।

अब वह सब शुरू हो चुका है जो साम्राज्यवादी ताकतें युद्ध के तत्काल बाद करती हैंअपने दूरगामी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए योजनाओं के ब्लू प्रिण्ट बनाये जा रहे हैं। ''पुननिर्माण'' के नाम पर दुरभिसन्धियों की सरगर्मियां शुरू हो चुकी हैं।

लेकिन इस युद्ध का केवल आर्थिक पहलू ही नहीं था। इसके राजनीतिक और सामरिक पहलुओं की अनदेखी नहीं की जानी चाहिये। समग्र आर्थिक-राजनीतिक-सामरिक मंसूबों के साथ अमेरिकी साम्राज्यवाद ने अफगानिस्तान पर हमला बोला था। गौर करने वाली बात यह है कि आज शीतयुद्ध के जमाने की सोवियत साम्राज्यवादियों की कूटनीति के मुकाबले अमेरिकी कूटनीति की जो कामयाबी नजर आ रही है, वह अमेरिकी रणनीतिकारों के कूटनीति-चातुर्य का परिचायक होने से ज्यादा इस बात का परिचायक है कि फिलहाल समय उनके ज्यादा अनुकूल है। सोवियत संघ के विघटन के फलस्वरूप शीतयुद्धोत्तर विश्व में पैदा हुए इसी सुभीते के बूते अमेरिकी साम्राज्यवादी 11 सितम्बर को अपने पक्ष में ज्यादा भुना सके हैं और उसके अन्य पश्चिमी बिरादरों को साथ खड़े होना पड़ा है।

अमेरिकी साम्राज्यवादी अफगानिस्तान में खूबसूरत मिलिटरी चेक-पोस्ट कायम करने के मंसूबों के साथ वहां पहुंचे हैं। यहां से वे एक ही साथ कई तात्कालिक-दूरगामी हितों को महफूज बनाने की मंशा रखते हैं। यहां से सोवियत संघ से अलग हुए सीमावर्ती स्वतंत्र राज्यों के राष्ट्रकुल के देशोंताजिकिस्तान, उजबेकिस्तान,

तुर्कमेनिस्तान, किर्गीजिस्तान पर दबाव डालकर उनके प्राकृतिक संसाधनों का दोहन ही सुगम नहीं बनेगा वरन रूस के साथ सहयोग-सहकार भी सुगम बनेगा। अगर किन्हीं स्थितियों में रूस के साथ अन्तरविरोध तीखे होते हैं (जिसकी सम्भावना से इंकार कत्तई नहीं किया जा सकता) तो रूस और इन घटक देशों के अन्तरविरोधों का लाभ उठाकर वह रूस पर अपनी पकड़ पहुंच को मजबूत बनायेगा। इसके साथ ही पड़ोस में ईरान भी है। अफगानिस्तान की चौकी से चीन पर भी न केवल सामरिक निगरानी करना आसान हो जायेगा बल्कि चीन की बढ़ती आर्थिक शक्तिमत्ता को भी काबू में रखने की कोशिश की जा सकती है। यह जानकारी आम हो चुकी है कि कजाकिस्तान और उजबेकिस्तान में तेल संसाधनों के दोहन के लिए चीन ने भारी मात्रा में पूंजी निवेश कर रखा है और उस क्षेत्र में एक पाइपलाइन बिछाने की योजना पर भी अमल कर रहा है। इसके साथ ही, अभी हाल में ही चीन के भीतर भी तेल के विशाल भण्डारों के बारे में पता चला है जिस पर भी अमेरिका की गिद्धदृष्टि लगी हुई है। वह इस घात में है कि चीन के विश्व व्यापार संगठन का सदस्य बन जाने के बाद वहां बह रही उदारीकरण की बयार कब अंधड़ में बदल जाये और सोवियत संघ की तर्ज पर वहां भी येल्तसिन-गोर्बाचोव के नग्न पूंजीवाद के दौर की शुरुआत हो। यूं, अमेरिका की उम्मीदें बिल्कुल हवाई भी नहीं हैं। चीनी शासकों की नग्न पूंजीवादी आर्थिक नीतियों और पुराने राजनीतिक ढांचे का अन्तरविरोध आने वाले दिनों में रूस के वर्तमान हालात की ओर तेजी से धकेलते जा रहे हैं। यह भीषण राजनीतिक-सामाजिक संकटों के रूप में कब फूट पड़े, यह बस समय की बात है। अफगानिस्तान में सामरिक निगरानी चौकी कायम होने के बाद अमेरिका चीन के भीतर उभरने वाले इस भावी संकट की आंच में अपनी रोटियां सेंकने की बेहतर 'पोजीशन' में होगा।

अफगानिस्तान में सामरिक चौकी कायम होने से दक्षिण एशिया में अमेरिकी मंसूबे कायम होने की राह भी कितनी आसान हो जायेगी इसे समझना कठिन नहीं है। अफगानिस्तान दक्षिण एशिया का प्रवेश द्वार है। यूं भी फिलहाल विभिन्न कारणों से अमेरिका-पाकिस्तान के सहयोग-सहकार के समीकरण सन्तुलित नहीं हो पा रहे हैं। दक्षिण एशिया की विशेष भू-राजनीतिक स्थिति में अपनी तुलनात्मक रूप से उन्नत उत्पादक शक्तियों के चलते भारतीय शासक वर्ग इलाके का चौधरी बनने की महत्वाकांक्षा रखता है। अपने इस 'नये मित्र' की ओर 'दोस्ती' का हाथ बढ़ाकर अमेरिका इस क्षेत्र के शक्ति-सन्तुलन को अपने हितों की पूर्ति की दिशा में अनुकूलित करने के लिए जो दांव-घात कर रहा है, उसमें अफगानिस्तान की चौकी विशेष मददगार बनेगी। अमेरिका का इतिहास यह रहा है कि वह अपने मित्रों-संश्रयकारियों को नियंत्रित करने के लिए भी चेकपोस्ट कायम करता रहा है। अब यह बात दीगर है कि अफगानिस्तान के इतिहास-भूगोल को देखते हुए अमेरिकी मंसूबों की कामयाबी आसान नहीं। फिलहाल पैदा हुई तमाम अनुकूलताओं, तमाम कूटनीतिक कुशलताओं के बावजूद हाथी इस क्षेत्र में दलदल में नहीं धंसेगा, इस बारे में खुद अमेरिकी शासक भी आश्वस्त नहीं होंगे।

यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि अफगानिस्तान के रास्ते मध्यपूर्व का दक्षिण एशिया में विस्तार हो रहा है। अमेरिकी सामरिक रणनीति के भौगोलिक विस्तार के नजरिये से यह बात जितनी सच है उससे अधिक एक भिन्न राजनीतिक अर्थ में यह सच है। 1948-49 के आसपास से ही मध्य-पूर्व साम्राज्यवादी विश्व के तमाम अन्तरविरोधों की गांठ बना हुआ था। फिलिस्तीनी मुक्ति के लिए हथियारबन्द संघर्षों की शुरुआत, स्वेज नहर का संकट, इराक-सीरिया में बाथ पार्टी द्वारा जनसमर्थन से तख्तापलट, लीबिया में गद्दाफी की सामन्तवाद विरोधी क्रान्तिइन सबके कुल योग के रूप में साम्राज्यवादी विश्व के तमाम अन्तरविरोध इस कदर गुंथ गये कि मध्यपूर्व इन अन्तरविरोधों की गांठ बन गया था। यहां अतीत के विस्तार में जाना हमारा मकसद नहीं। फिर भी यह जरूर है कि आज भले ही फिलिस्तनी मुक्ति संगठन का मौजूदा नेतृत्व *इन्तिफादा* से मिले संवेग को आगे बढ़ाने में सक्षम नहीं नजर आ रहा है (उसकी वर्गीय सीमाएं इसके आड़े आ रही हैं) लेकिन समूचे मध्यपूर्व के भीतर परिवर्तन का एक नया उद्वेग सुगबुगा रहा है। परिस्थितियां कौन सा मोड़ लेंगी, किस तरीके की क्रान्तिकारी शक्तियों के जन्म लेने की निषेचन-क्रिया चल रही है, इस बारे में नजूमियों की तरह भविष्यवाणी करना तो ठीक नहीं, लेकिन इतिहास के एक अध्येता के तौर पर कुछ बातें तो कही ही जा सकती हैं। इस्रायली शासकों की पीठ पर हाथ रखकर अमेरिकी साम्राज्यवादी फिलिस्तीनी जनता पर जो तबाही ढा रहा है, वह पहले हमेशा से अधिक व्यापकता और गहराई के साथ फिलिस्तीन के सवाल को समूचे अरब जगत का सवाल बनाता जा रहा है। यह चीज फैलकर अफगानिस्तान की लड़ाई को भी और लम्बा खींचती जायेगी।

इस युद्ध का केवल आर्थिक पहलू ही नहीं था। इसके राजनीतिक और सामरिक पहलुओं की अनदेखी नहीं की जानी चाहिये। समग्र आर्थिक-राजनीतिक-सामरिक मंसूबों के साथ अमेरिकी साम्राज्यवाद ने अफगानिस्तान पर हमला बोला था।

कहने का मतलब यह कि साम्राज्यवादी अन्तरविरोधों की जो गांठ मध्यपूर्व में पहले से मौजूद थी वह खुलने के बजाय और अधिक कसती ही जा रही है। साथ ही इसका दक्षिण एशिया की ओर विस्तार हो रहा है। भारतीय उपमहाद्वीप में भी जो स्थितियां जारी हैं वे किसी खौलते कड़ाहे से कम नहीं है। श्रीलंका में 'लो इंटेसिटी वार' की स्थिति बदस्तूर बनी हुई है। नेपाल का क्रान्तिकारी संघर्ष नेपाली शासकों और दक्षिण एशिया के प्रतिक्रियावादी शासकों को ही नहीं वरन साम्राज्यवादी चौधरियों को भी चिन्तित और चौकन्ना किये हुए हैं। मीडिया चाहे जितना

'ब्लैक आउट' करे भारत में पूर्वोत्तर राज्यों की स्थिति अब भी बेकाबू ही है। तमाम बुर्जुआ पत्रकार और राजनीतिक विश्लेषक जो टिप्पणियां कर रहे हैं, उनसे भी छनछनाकर यह बात निकल ही आ रही है कि पूर्वोत्तर राज्यों के असन्तोष को कुचलने में भारत सरकार अब तक नाकाम ही रही है। यूं भी समझा जा सकता है कि नगा विद्रोही नेता इसाक मुवइया से भारत सरकार द्वारा वार्ता की पेशकश किसी सौजन्यतावश नहीं हुई है। पिछले दो दशक से जारी दमन की कार्रवाइयां कश्मीरी अवाम की आकांक्षाओं को कुचल नहीं सकी हैं। सो, यह कहा जा सकता है कि साम्राज्यवादी मंसूबों का जो विस्तार आज दक्षिण एशिया में हो रहा है वह इस अर्थ में भी मध्यपूर्व का विस्तार है कि यह साम्राज्यवादी विश्व के अन्तरविरोधों का भी विस्तार है यानी, हाथी और भी अधिक गहरे और फैले हुए दलदल में धंसने जा रहा है।

अमेरिकी साम्राज्यवाद अपनी वैश्विक रणनीति में सफल होगा या नहीं, संघर्षरत राष्ट्रीयताएं मुक्त होंगी या नहीं, इन पर नियतिवादी ढंग से कुछ कहना औचित्यहीन है। लेकिन हमारा यह मानना है कि राष्ट्रीयताओं के संघर्ष की नियति आज पहले हमेशा से अधिक सीधे-सीधे सर्वहारा क्रान्ति के साथ जुड़ गयी है। इसका कारण यह है कि विश्व स्तर पर उपनिवेशवाद विरोधी संघर्षों के केन्द्रीय प्रश्न न रह जाने के चलते साम्राज्यवाद के मौजूदा दौर में राष्ट्रीयताओं के संघर्षों की आन्तरिक संरचना में भी बदलाव घटित हुए हैं। यह सही है कि राष्ट्रीयताओं के चल रहे तमाम हथियारबन्द संघर्षों को व्यापक जनसमर्थन भी हासिल है, लेकिन हम विषय की सीमा के चलते प्रसंगान्तर से बचते हुए फिलहाल सिर्फ यह कहना चाहते हैं कि विश्व इतिहास के आज के रंगमंच की सीमाओं ने इन सभी संघर्षों की नियति और भवितव्य को व्यापक मेहनतकश जनता की पूंजीवाद-साम्राज्यवाद विरोधी क्रान्ति से पहले हमेशा से अधिक करीबी से जोड़ दिया है।

यह तय है कि आने वाले दिनों में शासक वर्गों के साथ इन सभी राष्ट्रीयताओं के अन्तरविरोध और अधिक गहराते जायेंगे और संकट और अधिक घनीभूत होता जायेगा। लेकिन साथ ही यह भी तय है कि शासक वर्गों के साथ व्यापक जनता के अन्तरविरोध भी लगातार तीखे होते जायेंगे। इस स्थिति में ये सभी अन्तरविरोध और संकट एक-दूसरे से और अधिक गुंथते चले जायेंगे।

अगर भारत के ठोस सन्दर्भ में ही देखें तो राष्ट्रीयताओं के संघर्षों के अलावा देश के अलग-अलग हिस्सों में व्यापक मेहनतकश जनता के छिटपुट संघर्ष भी जारी हैं। इन संघर्षों से सत्ता आज भले निपट ले रही है लेकिन स्वयं सत्ता के सिद्धान्तकार और कई सूझबूझ वाले बुर्जुआ राजनीतिज्ञ भी बीच-बीच में जो चिन्तायें प्रकट करते रहते हैं उनसे भी यह आसानी से समझा जा सकता है कि ''उदारीकरण''निजीकरण की परिणतियां किसी प्रचण्ड देशव्यापी जनान्दोलन की पूर्वपीठिका निर्मित कर रही हैं। आखिर जो काले कानून केन्द्र और राज्य के स्तरों पर बनाये जा रहे हैं वे महज कुछ पाक-समर्थित आतंकवादियों के लिए कम और भावी जनान्दोलनों से निपटने के लिए ज्यादा हैं, यह कौन नहीं जानता! साफ दिख रहा है कि देश भीतर शासक वर्गों के साथ विभिन्न राष्ट्रीयताओं के अन्तरविरोध और शासक वर्गों के साथ व्यापक जनता के अन्तरविरोधदोनों ही तीखे होते जा रहे हैं और आपस में गुंथते भी जा रहे हैं। यह सच्चाई शायद 1960-70 के दशक में किसी आशावादी को स्वीकार नहीं होती लेकिन आज शायद यह हो सकती है कि सवाल चाहे कश्मीर का हो या पूर्वोत्तर राज्यों का, ये एक नासूर के समान टीसते रहेंगे। और शासक वर्ग इन्हें लक्षित कर चुनावी जलसे में अन्धराष्ट्रवादी नारे के रूप में उछालता रहेगा। कश्मीर को लक्षित कर पाकिस्तान के खिलाफ सारी देशभक्ति उंड़ेली जायेगी और पूर्वोत्तर राज्यों को भी समेटते हुए एकता-अखण्डता का वशीकरण मंत्र फूंका जाता रहेगातब तक, जब तक कि राष्ट्रीयताओं के ये सभी संघर्ष व्यापक मेहनतकश जनता के पूंजीवाद-साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के साथ जुड़ नहीं जाते।

दो-दो विश्वयुद्धों से साम्राज्यवादी ताकतों ने यह सबक निकाला है कि फिलहाल जहां तक सम्भव हो आमने-सामने टकराने से बचा जाये। इसके बजाय वे तीसरी दुनिया के देशों की जनता को तोपों का चारा बनाकर सामरिक जोर-आजमाइश कर रहे हैं।

बहरहाल, आज पूर्वोत्तर भारत और कश्मीर ही नहीं वरन लगभग समूचे दक्षिण एशिया मेंनेपाल, वर्मा, श्रीलंका, बांग्लादेश मेंजो विस्फोटक हालात हैं, उन्हें देखते हुए यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि परस्पर विरोधी वर्गशक्तियां आपस में और भी बुरी तरह उलझ पड़नेवाली हैं। ऐसे में लाजिमी तौर पर साम्राज्यवादी भी हस्तक्षेप के लिए कमर कस रहे हैं। यह अपेक्षित ही था कि 11 सितम्बर के बहाने अफगानिस्तान के खिलाफ युद्ध में कहर बरपा करके युद्ध और साम्राज्यवाद की शक्तिमत्ता के मनोविज्ञान का लाभ उठाते हुए महाबली अपनी प्रभुता को दुनिया की जनता पर थोपने की हर मुमकिन कोशिश करता।

वर्ल्ड ट्रेड सेण्टरपेंटागन पर आतंकवादी-आत्मघाती हमले, इसके बहाने अफगानिस्तान पर अमेरिकी हमले और फिलहाल विश्व पटल पर जारी घटनाक्रमये सारी चीजें एक बार फिर यही सिद्ध करती हैं कि शान्तिवादी चाहे जितनी सिसकियां भरें, चाहे जितना बुक्का फाड़कर रोयें, जब तक साम्राज्यवाद का अस्तित्व है तब तक मानवता को युद्धों से निजात मिलना मुश्किल है। जब तक साम्राज्यवाद है युद्ध होता ही रहेगाचाहे यह 'हॉट वार' के रूप में हो या 'कोल्डवार' के रूप में गृहयुद्ध के रूप में क्षेत्रीय युद्धों के रूप में महाद्वीपीय युद्धों के रूप में या

फिर विश्वयुद्ध के रूप मेंक्योंकि साम्राज्यवाद का मतलब ही है युद्ध।

आज विश्व स्तरपर आतंकवाद का जो उभार दिख रहा है वह भी एक प्रकार का युद्ध ही है। 11 सितम्बर के हमले के बाद खुद जार्ज बुश ने भी उसे अमेरिका के खिलाफ युद्ध ही कहा था। यह दुहराने की जरूरत नहीं कि ''अमेरिका के खिलाफ यह युद्ध'' खुद अमेरिका द्वारा पूरी दुनिया की जनता के खिलाफ जारी युद्धों की ही प्रतिक्रिया थी। दुनिया में आत्मघाती-आतंकवादी दस्ते महज कुछ लोगों के उन्माद, विक्षिप्त या शौक की वजह से नहीं पैदा हुए हैं। पूरी दुनिया में सत्ता, पूंजी या हथियारों के दमन पर सत्ताधारी किसी कौम को, या किसी देश के भीतर वहां की जनता को लगातार कोने में दबोचते चले जायेंगे ओर अनुकूल परिस्थिति एवं तैयारी के अभाव में यदि जनक्रान्तियां नहीं होंगी तो सत्ताधारियों द्वारा जनता के खिलाफ चलाये जा रहे युद्ध की प्रतिक्रियायें इन रूपों में भी होंगी, जैसी 11 सितम्बर को हुई। और हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि खुद ओसामा बिन लादेन खुद अमेरिका द्वारा ही पैदा किया गया भस्मासुर था। यह भी भूलने की बात नहीं कि सोवियत सामाजिक साम्राज्यवादी हमलावरों के खिलाफ खुद अमेरिका ने ही गुलबुद्दीन हिकमतयार से लेकर तालिबान को खड़ा किया था। उन्हें धन और हथियारों की मदद के साथ ही पाकिस्तान की मदद से सैन्य प्रशिक्षण भी दिलवाया था।

बहरहाल, यह तो किंचित प्रसंगान्तर था। हम युद्ध और साम्राज्यवाद के अन्तरसम्बन्धों की चर्चा कर रहे थे। **लेनिन** ने जब कहा था कि साम्राज्यवाद का अर्थ ही है युद्ध तो उनका मतलब युद्ध के किन्हीं खास रूपों से ही नहीं था। साम्राज्यवादी युद्ध अपरिहार्यतः विश्वयुद्ध के रूप में ही फूटेगा या विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियां ही आमने-सामने आपस में टकरायेंगीलेनिन का यह मन्तव्य कतई नहीं था। यहां साम्राज्यवाद के राजनीतिक अर्थशास्त्र की उन मूलभूत प्रस्थापनाओं पर चर्चा करना विषयान्तर होगा जिसके आधार पर लेनिन ने साम्राज्यवाद और युद्ध के अन्तरसम्बन्धों की वस्तुपरक व्याख्या की थी। यहां हम सिर्फ इस पर जोर देना चाहते हैं कि तत्कालीन विश्व परिस्थितियों में साम्राज्यवादी युद्ध के जिन रूपों की चर्चा उन्होंने की थी, वह नियतिवादी ढंग से इस विषय पर की जाने वाली चर्चाओं से एकदम भिन्न थी।

लेनिन ने जब विभिन्न साम्राज्यवादी लुटेरों के बीच उपनिवेशों, अर्द्धउपनिवेशों और वित्तीय उपनिवेशों (नाममात्र की राजनीतिक आजादी वाले देश) के बंटवारे के लिए साम्राज्यवादी शक्तियों के आपस में युद्ध में उलझने की बात की थी तो उनका तात्पर्य मूलतः यही था कि बाजार और मुनाफे के लिए विभिन्न इजारेदारियों के बीच मची होड़ अन्ततः विनाशकारी युद्धों तक जायेगी। लेकिन युद्ध की प्रकृति और उसके रूप देशकाल से निरपेक्ष किन्हीं खास रूपों में ही फूटेंगे, ऐसा उन्होंने कहीं नहीं कहा है।

यूं हम प्रथम विश्वयुद्ध में ही देखें तो रूस, पूर्वी यूरोपीय देशों के प्रतिक्रियावादी शासक और यूरोप के कई छोटे-मोटे देशों के बुर्जुआ शासक भी इस या उस पक्ष में खड़े होकर युद्ध में शामिल थे। खास तौर पर रूस का उदाहरण लिया जा सकता है। विश्व स्तर पर लूट का बड़ा भागीदार न होते हुए भी वह इलाकाई चौधरी के रूप में विश्वयुद्ध में शिरकत कर रहा था।

हम कह सकते हैं कि मूलतः और समग्रता में प्रथम और द्वितीय युद्ध विभिन्न साम्राज्यवादी ब्लाकों के बीच बाजार के बंटवारे की लड़ाई थी। लेकिन, साथ ही हमें यह भी दिखता है कि ठीक विश्वयुद्धों के बीच साम्राज्यवादी और तमाम प्रतिक्रियावादी शासक अपने-अपने देशों के भीतर भी जनता के खिलाफ युद्ध जारी किये हुए थे। दरअसल, हर लुटेरे युद्ध के बीच ये दोनों ही प्रवृत्तियां मौजूद रहती हैं, यह बात अलग है कि कभी एक पक्ष प्रबल होता है कभी दूसरा।

वर्ल्ड ट्रेड सेण्टरपेंटागन पर आतंकवादी-आत्मघाती हमले, इसके बहाने अफगानिस्तान पर अमेरिकी हमले और फिलहाल विश्व पटल पर जारी घटनाक्रम ये सारी चीजें एक बार फिर यही सिद्ध करती हैं कि शान्तिवादी चाहे जितनी सिसकिंया भरें, चाहे जितना बुक्का फाड़कर रोयें, जब तक साम्राज्यवाद का अस्तित्व है तब तक मानवता को युद्धों से निजात मिलना मुश्किल है।

अगर आज के हालत की बात करें तो कह सकते हैं कि विश्वयुद्ध का स्थान लगातार जारी क्षेत्रीय युद्धों ने ले लिया है, लेकिन इनका स्वरूप विश्वव्यापी है। लेकिन, इसका मतलब यह भी नहीं कि विश्वयुद्ध की सम्भावनाएं पूरी तरह खत्म हो चुकी हैं। साम्राज्यवादी युद्ध के अपने तर्क होते हैं, ये साम्राज्यवादी हुकूमतों की चाहतों से नहीं, बल्कि विश्व साम्राज्यवादी तंत्र के अपने अन्तर्निहित तर्क से पैदा होते हैं। इसलिए, दो-दो विश्वयुद्धों का समाहार करने के बावजूद साम्राज्यवादी युद्धों को अपने हितों के हिसाब से चाहे जितना विनियमित और अनुकूलित करने की कोशिश कर लें, विश्व युद्ध की सम्भावनाएं पूरी तरह निर्मूल नहीं हो सकतीं। लेकिन फिर भी अगर मोटे तौर पर सम्भावनाओं की बात करें तो विश्वयुद्ध की सम्भावनाएं पहले की तुलना में कम प्रतीत होती हैं।

अगर हम द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर परिस्थितियों पर एक सरसरी निगाह दौड़ायें तो पायेंगे कि समूचे एशिया-अफ्रीका में उपनिवेशवादी शासन से मुक्त हुए शासक वर्ग भी आपस में युद्धों में उलझते रहे हैं। उपनिवेशवादियों ने जाते-जाते कई देशों के बीच युद्धों के बीज खुद ही बो दिये थे। द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर विश्व में जो विभिन्न क्षेत्रीय युद्ध हुए, हम उनमें भी साफतौर पर साम्राज्यवादी विश्व के अन्तरविरोधों की पहचान कर सकते हैं। चाहे ईरान-इराक युद्ध रहा हो, इराक पर अमेरिकी हमले का सवाल रहा हो या ताजा अफगान युद्धइन

सबके भीतर अलग-अलग रूपों में साम्राज्यवादी विश्व के अन्तरविरोध गुंथे-बुने रहे हैं। अफगानिस्तान पर अमेरिकी हमले की ताजा घटना को ही लें, युद्ध ज्योंही लम्बा खिंचने लगा, ''अन्तरराष्ट्रीय आतंकवाद'' के खिलाफ बनी एकजुटता दरकने लगी। जब अमेरिका ने अफगानिस्तान के बाहर युद्ध का विस्तार इराक और सूडान तक करना चाहा तो यूरोपीय समुदाय के उसके सहयोगियों खासकर, फ्रांस और जर्मनी ने कड़ा प्रतिवाद किया। आतंकवाद का सहयोग करने का आरोप लगाते हुए जब उसने ईरान को घुड़की दी तो उसके बिरादरों ने सुर में सुर नहीं मिलाया। फिलिस्तनी जनता पर इस्रायली शासकों का जो कहर बरपा हो रहा है, उस सवाल पर भी अमेरिका और ब्रिटेन अपने साम्राज्यवादी बिरादरों से अलग-थलग पड़ गये हैं।

दो-दो विश्वयुद्धों से साम्राज्यवादी ताकतों ने यह सबक निकाला है कि फिलहाल जहां तक सम्भव हो आमने-सामने टकराने से बचा जाये। इसके बजाय वे तीसरी दुनिया के देशों की जनता को तोपों का चारा बनाकर सामरिक जोर-आजमाइश कर रहे हैं। ठीक उस तरह जैसे कोई गुण्डा खुद को किसी इलाके का बड़ा गुण्डा साबित करने के लिए उस इलाके के आम लोगों के ऊपर आतंक कायम करने कार्रवाइयां करता है। कुछ इसी तरह की रणनीति पर चलते हुए अपने को बड़ा चौधरी साबित करने के लिए आज साम्राज्यवादी शक्तियां समय-समय पर सामरिक जोर-आजमाइश करती हैं। यानी, जब तक साम्राज्यवाद है, तब तक अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा है और तब तक इस प्रकार के युद्ध मौजूद रहेंगे, जिनके जरिये साम्राज्यवादी बाजार के बंटवारे करते रहेंगेजैसाकि हमें मध्यपूर्व में या ताजा अफगानिस्तान युद्ध में दिखायी देता है। लेकिन फिर भी इस सम्भावना से आज भी पूरी तरह इन्कार नहीं किया जा सकता कि किसी समय लगातार जारी क्षेत्रीय युद्ध ऐसे युद्धों के रूप में भी फूट पड़ें जब साम्राज्यवादी शक्तियां किन्हीं दो खेमों के रूप में आमने-सामने खड़ी दिखायी दें। इन युद्धों के भीतर दो पहलू मौजदू रहे हैंएक तो साम्राज्यवादी हितों का टकराव और दूसरा साम्राज्यवाद का वहां की जनता के खिलाफ युद्ध। दोनों को जोड़कर अन्तिम बात यह कि साम्राज्यवाद ही इन युद्धों का मूल कारण है।

आज के समय में युद्ध और क्रान्ति के अन्तर्सम्बन्धों के बारे में **माओ** के प्रसिद्ध सूत्रीकरण ने नये अर्थ-सन्दर्भ और निहितार्थ ग्रहण कर लिये है। ''या तो युद्ध क्रान्तियों को जन्म देंगे या क्रान्तियां युद्ध को रोकेंगी''माओ के इस कथन की प्रासंगिकता को आज हम इस अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं कि आज विभिन्न रूपों में जो युद्ध जारी हैं उन्हें क्रान्तिकारी युद्धों द्वारा ही रोका जा सकता है, और यह कि लगातार जारी क्षेत्रीय युद्ध क्रान्तिकारी गृहयुद्धों की परिस्थितियां निर्मित करते जा रहे हैं। ऐसा हो ही नहीं सकता कि युद्धजनित विनाश का लगातार कहर बरपा होता रहे और जनता एकदम निर्जीव बनकर सब कुछ चुपचाप बर्दाश्त करती रहे। युद्ध जनता के लिए इतिहास के शिक्षक की भूमिका निभाते रहे हैं और आज भी निभा रहे हैं, इसका अपवाद नहीं हो सकता।

लेनिन ने जब कहा था कि साम्राज्यवाद का अर्थ ही है युद्ध तो उनका मतलब युद्ध के किन्हीं खास रूपों से ही नहीं था। साम्राज्यवादी युद्ध अपरिहार्यतः विश्वयुद्ध के रूप में ही फूटेगा या विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियां ही आमने-सामने आपस में टकरायेंगी लेनिन का यह मन्तव्य कतई नहीं था।

ऐसे में कुल मिलाकर, बात फिर वहीं जा पहुंचती है जहां पहुंचकर तमाम खाये-अघाये बुद्धिजीवियों को उबासी आने लगती है मगर क्रान्तिकारी व्यवहार से जुड़े लोग व्यावहारिक ढंग से एक गहन चिन्तापूर्ण चिन्तन में डूब जाते हैं। यानी, क्रान्ति की वस्तुगत परिस्थितियों की अनुकूलता के बरक्स क्रान्ति की आत्मगत शक्तियों की तैयारी का सवाल। कहना न होगा कि इन युद्धों की विनाशकारी आग में होलिका की तरह साम्राज्यवाद का दहन नहीं होगा या यूं कि साम्राज्यवाद का दहन अपने-आप नहीं हो जायेगा। विश्व सर्वहारा क्रान्ति के नये चक्र की संघर्ष ज्वालायें ही इस काम को अंजाम देंगी। लेकिन बार-बार दुहराई जा चुकी यह बात एक ठंडे और नंगे सत्य के रूपमें आज भी हमारे सामने उपस्थित है कि सर्वहारा क्रान्ति के प्रथम चक्र की पराजय और दूसरे चक्र के आरम्भ के इस संक्रमण काल में उसकी मनोगत शक्तियां अभी भी कमजोर हैं, बिखरी हुई हैंविश्व स्तर पर प्रतिक्रान्ति की धारा क्रान्ति की धारा पर और प्रतिक्रिया की धारा प्रगति की धारा पर फिलवक्त हावी है। तो ऐसे में क्या ऊबने-उबासी लेने के बजाय इस विडम्बनापूर्ण स्थिति पर बार-बार विचार नहीं किया जाना चाहिये?

आज की यह स्थिति विडम्बनापूर्ण चाहे जितनी हो पर अप्रत्याशित कतई नहीं है। विश्व सर्वहारा क्रान्ति के प्रथम चक्र की पराजय के बाद यह उम्मीद करना कि चन्द एक दशकों के भीतर ही उसका दूसरा चक्र संवेग ग्रहण कर लेगा क्या अवास्तविक प्रत्याशा नहीं है? जैसे जड़ता की एक शक्ति होती है वैसे ही तात्कालिक विजय की भी एक शक्ति होती है और आज यह शक्ति भी विश्व पूंजीवाद की तात्कालिक आक्रामकता के रूप में प्रकट हो रही है। आज के हालात की सच्चाई के मद्देनजर भी विश्व सर्वहारा क्रान्ति के मौजूदा संक्रमण-काल की कठिनाइयों को समझा जाना चाहिये।

दरअसल, विश्व सर्वहारा क्रान्ति का यह संक्रमण काल एक अन्य ऐतिहासिक विडम्बना का भी शिकार है। कभी-कभी अतीत की क्रान्तियां उस पिता समान बन जाया करती हैं जिसके विराट व्यक्तित्व की छत्र-छाया में उसके पुत्र का व्यक्तित्व कुम्हला जाया करता है। ठीक उस बरगद के समान जिसकी विराट छांह के नीचे छोटे-मोटे पौधे अवरुद्ध-विकास के शिकार हो जाते हैं। ठीक इसी तरह इतिहास की जो महान युगान्तरकारी आलोकमय क्रान्तियां रही हैं वे नये क्रान्तिकारी प्रयोगों के फलने-फूलने की राह में आज बाधा बनकर खड़ी हो गयी हैं। कहने

की जरूरत नहीं कि इसके लिए दोष उन क्रान्तियों का नहीं है वरन उस दृष्टि का है जिससे अतीत की क्रान्तियों का अनुकरण करने की कोशिश की जाती है। पेरिस कम्यून, महान अक्टूबर समाजवादी क्रान्ति चीनी नव जनवादी क्रान्ति और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति विश्व सर्वहारा क्रान्ति के प्रथम चक्र के चार महानतम मील के पत्थर हैं। निश्चय ही, दूसरे चक्र की सर्वहारा क्रान्तियां इन्हीं क्रान्तियों के विचारधारात्मक आलोक में सम्पन्न होंगी। लेकिन जब हम यह कहते हैं तो इसका मतलब यह कतई नहीं होना चाहिये कि हमें इन क्रान्तियों की रणनीति और आम रणकौशल की हूबहू नकल उतारनी है। सर्वहारा क्रान्ति अतीत की नहीं भविष्य की कविता होती है। हमें यह समझना चाहिये कि महानतम अतीत को भी भविष्य के रूप में हूबहू पुनर्प्रस्तुत-पुनर्निर्मित नहीं किया जा सकता। आज हम अतीत की महान सर्वहारा क्रान्तियों से रणनीति, रणकौशल और नारे नहीं उधार ले सकते हैं। हमें इनके विचारधारात्मक सारतत्व को ग्रहण करना चाहिये; स्पिरिट, पहुंच ओर पद्धति के धरातल पर शिक्षायें हासिल करनी चाहिये।

लेकिन, कभी-कभी होता यह है कि हम अपने महान अतीत से इतना अभिभूत होते हैं कि दिक्काल का अन्तराल हमारी दृष्टि से छूट जाता है और इस अन्तराल में आर्थिक-राजनीतिक- सामाजिक-सांस्कृतिक धरातलों पर जो परिवर्तन घटित हो रहे होते हैं उनपर हमारी निगाह नहीं पहुंच पाती। यह उक्ति पूरी तरह सही है कि अगर तुम अतीत पर पिस्तौल से गोली दागोगे तो भविष्य तुम पर तोप से गोले बरसायेगा। लेकिन हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि अगर हम अतीत को गठरी की तरह अपनी पीठ पर लादें रहेंगे तो भविष्य हमारे लिए एक गड्ढा बनकर रह जाता है। महानतम पूर्वजों का अनुकरण मात्र करके आने वाली पीढ़ी महान तो दूर मौलिक भी नहीं हो सकती।

यहां स्पष्ट कर देना जरूरी है कि हम यह कतई नहीं कह रहे कि इतिहास के किसी दौर-विशेष में कोई क्रान्ति उस दौर की अन्य क्रान्तियों के लिए मशाल-वाहक की भूमिका नहीं निभाती। हर दौर की मशालवाही क्रान्तियां हुआ ही करती हैं जिनके गौरवमयी आलोक में अन्य अनुवर्ती क्रान्तियां सम्पन्न होती हैं। यहां तक कि कई अनुवर्ती क्रान्तियों मशालवाही क्रान्तियों से बहुत कुछ सीधे-सीधे ले लेती हैं। उदाहरण के लिए द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के दौर में एशिया-अफ्रीका के अर्द्ध सामन्ती-अर्द्ध औपनिवेशिक संरचनाओं वाले देशों के लिए चीन की महान नव जनवादी क्रान्ति ने मशालवाहक क्रान्ति की भूमिका निभायी। लेकिन इसके आलोक में सम्पन्न वियतनाम और कोरिया की क्रान्तियां हों या अफ्रीका के राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध, वे भी चीनी क्रान्ति की कार्बन कापियां नहीं थीं।

पेरिस कम्यून, महान अक्टूबर समाजवादी क्रान्ति चीनी नवजनवादी क्रान्ति और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति विश्व सर्वहारा क्रान्ति के प्रथम चक्र के चार महानतम मील के पत्थर हैं। निश्चय ही, दूसरे चक्र की सर्वहारा क्रान्तियां इन्हीं क्रान्तियों के विचारधारात्मक आलोक में सम्पन्न होंगी। लेकिन जब हम यह कहते हैं तो इसका मतलब यह कतई नहीं होना चाहिये कि हमें इन क्रान्तियों की रणनीति और आम रणकौशल की हूबहू नकल उतारनी है।

आज हम एक ऐसे समय में खड़े हैं जब रूसी क्रान्ति हमसे चौरासी साल पीछे खड़ी है और चीनी क्रान्ति को सम्पन्न हुए आधी सदी से अधिक का समय गुजर चुका है। इस अवधि में जो परिवर्तन घटित हुए हैं उन्हें निगाह से ओझल कर अनुकरणमूलक ढंग से चीनी क्रान्ति की तर्ज पर हम आज सर्वहारा क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल का निर्धारण नहीं कर सकते। आज साम्राज्यवाद की प्रकृति मूलभूत रूप से अपरिवर्तित रहते हुए भी उसकी आन्तरिक संरचना और कार्यप्रणाली में जो नयी-नयी अभिलाक्षणिकताएं पैदा हुई हैं उनसे निश्चय ही आज के दौर की सर्वहारा क्रान्तियों की रणनीति व आम रणकौशल प्रभावित होंगे। 1970 के दशक से ही जारी विश्व-पूंजीवाद के ढांचागत संकटों के फलस्वरूप आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिकसभी धरातलों पर जो परिवर्तन घटित हुए हैं उन्हें भला कैसे नजरअन्दाज किया जा सकता है? भारत के ठोस सन्दर्भ में ही अगर हम सरसरी तौर पर देखें तो द्वितीय विश्वयुद्ध के तत्काल बाद के दौर की तुलना में किसान आबादी की वर्गीय संरचना में गुणात्मक परिवर्तन नजर आ जायेंगे। देश में जितने व्यापक स्तरों पर औद्योगीकरण हुआ है, सर्वहारा आबादी में जितनी भारी अभिवृद्धि हुई है, उनकी भी अनदेखी नहीं की जा सकती। वैसे यह एक अलग चर्चा का विषय है। हम यहां कुछ समस्याओं की ओर संकेत-मात्र कर रहे हैं जिस ओर अक्सर उचित ध्यान नहीं दिया जाता। अनेक ऐसे परिवर्तन हुए हैं जिनके मद्देनजर 1963 की आम लाइन के आधार पर आज के दौर की सर्वहारा क्रान्ति की आम लाइन निरूपित करने के बारे में सोचना अतीत की महान क्रान्तियों के सांचे और खांचे में भविष्य की क्रांतियों को फिट करने जैसा ही है।

लेकिन हमारे यहां प्रवृत्ति यह है कि जो चीन की नव जनवादी क्रान्ति की तर्ज पर भारतीय क्रान्ति की रणनीति-रणकौशल और मार्ग का निर्धारण करने से इंकार करता है उसे बिरादरी-बाहर घोषित कर दिया जाता है। जो चीनी पार्टी द्वारा प्रस्तुत 1963 की आम लाइन नहीं मानता उसे विपथगामी मान लिया जाता है। ज्यों ही कोई यह बात कहता है कि भारतीय कृषि में पूंजीवादी विकास घटित हो चुका है और इस नतीजे के निकट-निकट की बात भी कहता है कि भारत में समाजवादी क्रान्ति की पूर्वपीठिका तैयार हो चुकी है तो छूटते ही ''त्रात्स्कीपंथी'' या ऐसे ही कुछ अन्य फतवे जारी कर दिये जाते हैं। सोवियत समाजवादी क्रान्ति से आम दिशा के धरातल पर इसकी समरूपताओं या विभिन्नताओं पर सृजनात्मक ढंग से विचार करने के बजाय नारों और क्रान्ति के मार्ग तक को ज्यों का त्यों ग्रहण करते हुए भोंडें अनुकरणमूलक ढंग से इसका तुलनात्मक अध्ययन शुरू हो जाता है। अतीत

की महान सर्वहारा क्रान्तियों के विचारधारात्मक सत्वों को ग्रहण करने के बजाय इन क्रान्तियों के महान नेताओं द्वारा अपने समय में प्रस्तुत किये परिस्थितियों के मूल्यांकनों को मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा के सूत्रीकरणों के रूप में प्रस्तुत करने की इस प्रवृत्ति को कठमुल्लावाद के सिवा और क्या कहा जाना चाहिये।

हम यहां फिर दुहरा दें कि हमारे कहने का मंतव्य यह नहीं कि अतीत की सर्वहारा क्रान्तियों से कुछ भी सीखने लायक नहीं। हम आज भी साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्तियों और लेनिनवाद के युग में ही जी रहे हैं। लेकिन हम लेनिन के समय के साम्राज्यवाद के युग में नहीं जी रहे हैं। इसलिए हम लेनिनवादी रणनीति का अनुकरण नहीं कर सकते। हम पिछले पच्चीस वर्षों में सम्राज्यवाद की आन्तरिक संरचना और उसके तौर-तरीकों में आये बदलाव की अनदेखी कर अपनी रणनीति का निर्धारण नहीं कर सकते। इसी प्रकार आज भी पिछड़ी उत्पादक शक्तियों और पिछड़ी सामाजिक संरचना वाले देशों की क्रान्तियों को चीनी क्रान्ति से बहुत सी महत्वपूर्ण शिक्षायें ग्रहण करनी होंगी। लेकिन इन पिछड़े से पिछड़े समाजों में भी सामाजिक-आर्थिक संरचना में जो महत्वपूर्ण बदलाव घटित हुए हैं उन्हें नजरअन्दाज कर हम अपनी रणनीति-रणकौशल और मार्ग का निर्धारण नहीं कर सकते।

दरअसल, अपनी कालयात्रा के दौरान इतिहास ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाता है अतीत की शिक्षायें उतनी ही अमूर्तित और सत्वरूप होती जाती हैं। जबकि एकदम निकट की शिक्षायें मूर्त रूप में और प्रत्यक्षतः मार्गदर्शन करती हैं। यानी हम दिक और काल में अतीत से जितना ही निकट होते हैं उतनी ही निकटता के साथ अतीत की सभी प्रतिनिधि घटनायें हमारे लिय मॉडल और मानक (वह भी एक हद तक ही) का काम करती हैं। दूरी बढ़ते जाने के साथ ही विभिन्नताएं पैदा होने लगती हैं और एक मंजिल पर पहुंचकर कार्यक्रम के एक व्यापक फ्रेम और आम दिशा और कुछ हद तक व्यावहारिक शिक्षाएं हमारा मार्गदर्शन करती हैं। और जब हम अतीत से इतनी दूरी लेकर खड़े हो जाते हैं कि सिर्फ इतिहास की आम रूपरेखा ही हमारे पीछे खड़ी होती है तो अतीत की क्रान्तियों के कुल योग का सारतत्व ही विचारधारा के रूप में हमारा मार्गदर्शन करता है। इसे हम निचोड़ के रूप में यूं व्यक्त कर सकते हैं कि विश्व सर्वहारा क्रान्ति के प्रथम चक्र के विचारधारात्मक संघटक अवयवों और द्वितीय चक्र की विश्व सर्वहारा क्रान्ति के विचारधारात्मक संघटक अवयवों का कोई एक समुच्चय नहीं बनाया जा सकता। कहने का मतलब यह कि पेरिस कम्यून, अक्टूबर समाजवादी क्रान्ति, चीन की नव जनवादी क्रान्ति और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का विचारधारात्मक सत्व ही विश्व सर्वहारा क्रान्ति के दूसरे चक्र में हमारा मार्गदर्शन करेगा।

लेकिन जब कोई इस प्रकार की जिद ठान बैठता है कि अतीत की सर्वहारा क्रान्तियों की फोटो कापी करके भविष्य की सर्वहारा क्रान्तियों की रणनीति-आम रणकौशल और मार्ग निर्धारित किया जा सकता है तो वह निश्चय ही कठमुल्लावादी छोर पर जा बैठता है। यह कठमुल्लावादी जिद ही है जो सृजनात्मक रूप से अतीत की सर्वहारा क्रान्तियों के विचारधारात्मक सत्व का आसवन (डिस्टिलेशन) कर मौजूदा समय की सर्वहारा क्रान्तियों की सही रणनीति-रणकौशल और मार्ग निर्धारण के आड़े आ रहा है। पर आज यही एक चुनौती नहीं है। दूसरे छोर पर नववामपंथी निठल्ले ''चिन्तकगण'' भी विद्यमान हैं जो अतीत की क्रान्तियों पर ''मौलिक'' चिन्तन करते हुए बाल की खाल निकाल रहे हैं। साम्राज्यवाद के आज के दौर में हो रहे ''बेहद-बेहद महत्वपूर्ण'' परिवर्तनों की चकाचौंध से चुंधिआये हुए हैं और भांति-भांति के ''नयेपन'' पर विस्मय-विमुग्ध होकर मार्क्सवादी विचारधारा की धुरी से ही खिसक गये हैं और लुढ़क-पुढ़क रहे हैं। ये प्रायः किताबी कीड़े होते हैं जिन्हे अन्ततोगत्वा अपने उद्यम में इतिहास की 'सद्गति' को ही प्राप्त होना है। पर हालात की विडम्बना तो देखिये कि अगर कठमुल्लावादियों के कठमुल्लेपन की आलोचना की जाती है तो नववावमपंथ की जमीन पर खड़ी आलोचना का फतवा जारी कर दिया जाता है और अगर धुरीविहीन नववामपंथियों के मुक्त-चिन्तन की आलोचना की जाती है तो कठमुल्लावादियों की जमात में खड़ा कर दिया जाता है। दरअसल, कठमुल्लावाद और नववामपंथी चिन्तन एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। **माओ** ने एक बार कहा था कि कठमुल्लावाद गोबर के ढेर के समान है, इससे आप कुछ भी बना सकते हैंसंशोधनवाद भी। बहरहाल, इतिहास में ऐसी विडम्बनायें भी प्रायः घटती ही हैं ओर आगे चलकर खुद इतिहास ही इन विडम्बनाओं की व्यावहारिक आलोचना प्रस्तुत कर डालता है।

जब कोई इस प्रकार की जिद ठान बैठता है कि अतीत की सर्वहारा क्रान्तियों की फोटो कापी करके भविष्य की सर्वहारा क्रान्तियों की रणनीति-आम रणकौशल और मार्ग निर्धारित किया जा सकता है तो वह निश्चय ही कठमुल्लावादी छोर पर जा बैठता है।

अन्त में, इक्कीसवी सदी के प्रथम वर्ष ने भविष्य के जिन संकटों के पूर्व संकेत दिये हैं उनकी पूर्वकल्पना अगर हम कर पा रहे हैं तो हमें गम्भीरता के साथ और व्यावहारिक धरातल पर इन विडम्बनापूर्ण स्थितियों से बाहर निकलने की दिशा में अपने प्रयासों को तेज करना होगा। सर्वहारा क्रान्ति की लगातार विकसित होती जा रही वस्तुगत परिस्थितियों और आत्मगत शक्तियों के बीच के अन्तरविरोध को सृजनात्मक ढंग से हल करने के लिए पहले हमेशा से अधिक तत्पर और सचेत होना होगा। यूं भी सर्वहारा क्रान्तियां मानवीय ऊर्जा के कुशलतम, व्यापकतम और सूक्ष्मतम उपयोग की मांग जो करती हैं।

●

यह युद्ध साम्राज्यवादी विस्तार के लिए है

गौतम नवलखा

'दायित्वबोध' का यह लेख प्राप्त होने तक 11 सितम्बर के अपराधियों को सजा देने के नाम पर अफगानिस्तान पर अमेरिकी हवाई बमबारी जारी थी और हामिद करजई की अन्तरिम सरकार भी सत्तारूढ़ नहीं हुई थी। इस हमले के पीछे छिपे अमेरिकी मंसूबों के बारे में लेखक ने इस लेख में जो कुछ कहा है, बाद के घटनाक्रम उसे और पुष्ट करते हैं। सम्पादक

आतंकवाद पर हमला करने के नाम पर अफगानियों के खिलाफ एक जंग छेड़ दी गयी है। 11 सितम्बर की घटना ने जिसमें 6000 लोग मौत की गर्त में समा गये, सबको दहला दिया था। आक्रोश चाहे जितना जबर्दस्त रहा हो, या इसके पीछे राजनीतिक उद्देश्य जो भी रहा हो, किसी भी तरह इन नागरिकों की हत्या को सही नहीं ठहराया जा सकता। लेकिन यही बात अमेरिका पर भी लागू होती है। पर अमेरिका तो यह मानता है कि तालिबान-अलकायदा की तलाश में अफगानी जनता का नरसंहार करना उचित है। यूं होना तो यह चाहिए था कि पूरी एक सदी तक लोगों और राष्ट्रों का उत्पीड़न और शोषण करके नाइंसाफियों को बढ़ावा देने वाले अमेरिकी प्रशासन में इस हमले के बाद एक आत्मनिरीक्षण की प्रक्रिया शुरू हो जाती। लेकिन हुआ इसके उलट। इस घटना को उन्होंने एक ऐसे क्षेत्र में अपने प्रभाव को विस्तार करने के लिए भुना लिया जो रणनीतिक और वाणिज्यिक दृष्टि से बेशकीमती है।

अफगानिस्तान ने पिछले 23 सालों में बहुत कष्ट झेले हैं। पहले एक दूसरी महाशक्ति और अब अमेरिका द्वारा प्रभुत्व कायम करने के प्रयासों ने उसे तबाह कर दिया। पहले हुए युद्ध में दस लाख से ज्यादा लोग मारे गये, पचास लाख शरणार्थी बनने को मजबूर हो गये और पन्द्रह लाख से भी ज्यादा आबादी विकलांग, अनाथ या विधवा हो गयी। और उसके बाद लगातार चार साल के सूखे के बाद 15 लाख और लोग दरिद्रता में धकेल दिये गये और शरणार्थी बनने को बाध्य कर दिये गये। औसत आयु गिरकर 45 वर्ष हो गयी। यहां भावी माताओं की मृत्युदर सबसे अधिक है और प्रत्येक चार बच्चों में से एक बच्चा पांच साल की उम्र में पहुंचने से पहले ही मर जाता है। केवल 10 फीसदी बच्चों की शिक्षा तक पहुंच है और सिर्फ एक फीसदी छठी क्लास से आगे पढ़ पाते हैं। जब से तालिबान ने बच्चियों की शिक्षा पर प्रतिबंध लगाया है तब से स्त्री साक्षरता सबसे कम हो गयी है। यह है वह तबाह देश जो आज अमेरिका के हमले का शिकार बन रहा है। प्राप्त सारे विवरणों के अनुसार हवाई बमबारी से भारी पैमाने पर नागरिक क्षति हुई है। अमेरिकी हवाई बमबारी के बारे में सबसे बुरी बात सिर्फ यह नहीं है कि कायरतापूर्ण ढंग से काफी ऊंचाई से बम गिराये जा रहे हैं और प्रत्येक दस में से पांच बम निशाने से भटक जा रहे हैं, इससे भी बुरी बात यह है कि इसमें क्लस्टर बमों का इस्तेमाल किया जा रहा है। सोवियत संघ द्वारा किये गये ऐसे ही क्लस्टर बमों के इस्तेमाल के परिणामस्वरूप भारी पैमाने पर लोगों की जानें गई थीं। और बड़ी संख्या में बच्चे, औरतें और मर्द अपंग हुए थे। दुनिया भर में भर्त्सना के बावजूद अमेरिका द्वारा क्लस्टर बमों का इस्तेमाल निन्दनीय है। क्लस्टर बमों के साथ खतरा यह होता है कि वे सैकड़ों उपबमों में टूट जाते हैं, और जो नहीं फूटते वे बारूदी सुरंग के समान हो जाते हैं, जो किसी चीज से सम्पर्क होने पर फट सकते हैं। इसलिए इन बमों के गिराये जाने के हफ्तों, महीनों और सालों बाद तक ये लोगों की जानें लेते रहेंगे। यह सिर्फ अमेरिकी बमबारी द्वारा बच्चों और महिलाओं की हत्या नहीं है, बल्कि बड़े पैमाने पर विस्थापन, अन्तरराष्ट्रीय सहायता एजेंसियों द्वारा दी जा रही सहायता के रुक जाने (वर्ल्ड फूड प्रोग्राम सितम्बर के अन्त तक हर रोज 33 लाख अफगानों को खाना दे रहा था) आदि के जरिये अफगानिस्तान में पैदा हुई जीवन की अव्यवस्था के चलते होने वाली दुर्घटनाएं भी हैं। लगातार तीन साल के सूखे और कृषि सम्बन्धी विकास की कमी ने भारी संख्या में उन अफगानों को पहले ही कंगाली की ओर धकेल दिया था, जो छोटे या सीमांत किसान थे। अब युद्ध ने उनके जिन्दा रहने पर भी खतरा पैदा कर दिया है। अन्तरराष्ट्रीय सहायता एजेंसियां अमेरिका और ब्रिटेन से उनकी हवाई बमबारी रोकने की प्रार्थना कर रही है जिससे सर्दियां आने और सड़क यातायात जोखिमभरा हो जाने से पहले खाद्य सामग्रियां देश के भीतर पहुंच जायें। लेकिन इन प्रार्थनाओं को अस्वीकार कर दिया गया है। सहायता एजेन्सियों ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि भारी मात्रा में खाद्य सामग्रियां लोगों तक सिर्फ जमीनी यातायात द्वारा पहुंच सकती हैं, हवाई रास्ते से तो कुछ लोगों तक थोड़े समय के लिए ही पहुंचाया जा सकता है। यह विराट मानवीय संकट अमेरिकी साम्राज्यवाद के विरुद्ध असन्तोष और गुस्से को लगातार बढ़ा रहा है।

यह युद्ध मानवता के खिलाफ एक अपराध है। जरा इन बातों पर गौर करें : 11 सितम्बर को किये गये अपराध और उसके जवाब में असाधारण असन्तुलन है; यह अपराधियों के खिलाफ इंसाफ करने का प्रयास नहीं है बल्कि एक ऐसा युद्ध है जिसकी आड़ में प्रभाव के नये क्षेत्र बनाये जा रहे हैं। याद रहे कि यदि कथित अपराधों के जवाब में लोगों

और देशों पर अमेरिका द्वारा युद्ध थोपना उचित है, तो अमेरिका पर भी यह बात लागू होनी चाहिए। लोगों और राष्ट्रों के खिलाफ सैकड़ों वर्षों से हो रहे अमेरिकी अपराधों का हिसाब मांगा जाना चाहिए और अमेरिकी सरकार को इसका मूल्य चुकाने पर बाध्य किया जाना चाहिए? यह मांग बदले की भावना से प्रेरित नहीं है, बल्कि यह हमारा दृढ़ विश्वास है कि जो अपराध करते हैं, उनके फैसले सुनाये जाने चाहिए। यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि अमेरिका (और भारत) उन कुछ देशों में से हैं जिन्होंने अन्तरराष्ट्रीय आपराधिक न्यायालय स्थापित किये जाने का विरोध किया था। सम्भवतः इसीलिए, क्योंकि वे डरते हैं कि उनकी सरकार पर किसी भी दूसरी सरकार से ज्यादा मुकदमे चलेंगे। खैर, इस वाद-विवाद को यहीं छोड़ते हैं। जो बात गौर करने वाली है वह यह कि यह युद्ध अवैध है। एक तो इसलिए कि यह अफगानिस्तान के विरुद्ध है जबकि इस अपराध के लिए जिम्मेदार 19 लोगों में से एक भी अफगानी नहीं है। इनमें 15 सऊदी नागरिक थे और चार मिस्र के। फिर भी न तो सऊदी शासन को और न ही मिस्र को निशाना बनाया गयानिशाना बना अफगानिस्तान। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद ने किसी भी स्थिति में ''आतंकवादियों को शरण देने वाले राज्य'' के खिलाफ हथियारबन्द हमले को सही ठहराने के रूप में आत्मरक्षा के अधिकार के दावे को खारिज किया है। 1 अक्टूबर 1985 में इजरायली हवाई जहाजों ने ट्यूनीशिया में पी. एल.ओ. के हेडक्वार्टर पर बमबारी की। इजरायल ने यह कहते हुए हमलों को सही ठहराया कि पी.एल.ओ. एक आतंकवादी संगठन है और ट्यूनीशिया ने जानबूझकर उन आतंकवादियों को शरण दी है जिन्होंने इजरायल को निशाना बनाया है। यह दावा सुरक्षा परिषद द्वारा प्रस्ताव 573 के जरिये 14 के मुकाबले शून्य के अंतर से खारिज कर दिया गया। इस मतदान में अमेरिका ने भाग नहीं लिया। हम यह याद रखें कि संयुक्त राष्ट्र ने आतंकवाद को परिभाषित नहीं किया है। वस्तुतः इसे परिभाषित करने के लिए एक संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन आयोजित किया जाना था, लेकिन इसे टाल दिया गया है क्योंकि कोई सरकार अभी सहमत नहीं है। कोई भी सरकार यह नहीं मानेगी कि राजकीय आतंकवाद नाम की भी एक चीज होती है। उनमें से अधिकांश जनता के, दमन और शोषण के विरुद्ध संघर्ष को शैतानी हरकतों के रूप में चित्रित करते हैं और उन्हें आतंकवाद के रूप में वर्णित करते हैं। आतंकवाद के परिभाषित न होने पर सभी देश दूसरे देशों पर हमला करके अपने अपराधों और साथ ही साथ अपने सहयोगियों के अपराधों के कलंक धोने के लिए आजाद हैं। हालांकि इस पर कुछ पाबंदियां हैं कि कोई आतंकवाद से लड़ने के नाम पर कहां तक जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर की धारा 51 राज्यों को स्वतंत्र या सामूहिक आत्मरक्षा का अधिकार देती है। पर यह अधिकार तभी कारगर होता है। ''जब तक कि सुरक्षा परिषद अन्तरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा कायम रखने के लिए आवश्यक कदम उठा न ले।'' हालांकि सुरक्षा परिषद का 28 सितम्बर का प्रस्ताव 1373 उसे ''सभी आवश्यक कदम उठाने के लिए'' प्राधिकृत करता है लेकिन वह अमेरिका को यह ''कदम'' उठाने के लिए प्राधिकृत नहीं करता। सबसे घृणित बात तो यह है कि अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद को यह सूचित किया कि ''हमें यह पता चल सकता है कि हमारी आत्मसुरक्षा के लिए आगे चलकर दूसरे संगठनों और दूसरे राज्यों पर भी कार्रवाई की जरूरत है।'' यह युद्ध को दूसरे देशों के खिलाफ विस्तारित करना है। तो क्या ऐसे में यह कहा जा सकता है कि महाबली केवल अपनी ताकत दिखाने और बदला लेने निकल पड़ा है?

तथाकथित ''आतंकवाद के विरुद्ध युद्ध' को इस क्षेत्र के ऊर्जा संसाधनों को नियंत्रित करने के कदमों की पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए। कैस्पियन सागर और मध्य-एशिया के अनछुए तेल भण्डारों तक तेल और गैस पाइपलाइन बिछाने और चीन, रूस, ईरान और भारत जैसे वर्तमान और सम्भावनासम्पन्न विरोधियों के बरक्स रणनीतिक फायदों के रूप में देखा जाना चाहिए। अमेरिका और नाटो पहले ही फारस और अरब सागर के गरम पानी के बन्दरगाहों और सऊदी और खाड़ी देशों के विशाल तेल भण्डारों को नियंत्रित करते हैं हालांकि, विश्व भर का तेल उत्पादन बढ़ रहा है लेकिन वैकल्पिक ऊर्जा स्रोत और ऊर्जा तकनीकें विश्व भर में ऊर्जा आपूर्ति का एक बेहद मामूली सा हिस्सा उत्पादित कर रही हैं। अमेरिका-नाटो का पहले ही मध्य पूर्व के तेल संसाधनों पर कब्जा कायम है। भूतपूर्व सोवियत संघ और मध्य एशियाई गणराज्यों के कैस्पियन सागर क्षेत्र में और उसके इर्द-गिर्द भारी मात्रा में नये जीवाश्म ईंधन पाये गये हैं। कैस्पियन सागर के तट पर पांच देश हैंरूस, ईरान, तुर्कमेनिस्तान, अजरबैजान और कजाकिस्तान। लेकिन इस पूरे क्षेत्र में हलचल मची हुई है। अजरबैजान के 10 अरब बैरल के ईंधन भण्डार आर्मेनिया के साथ उसके युद्ध के चलते निकाले नहीं जा सकते। अपनी आजादी के लिए लड़ रहे चेचन योद्धाओं को बर्बरतापूर्वक कुचल डालने के रूसी कोशिशों के चलते काकेशस भी रणक्षेत्र बना हुआ है। वहीं जार्जिया अबखाजिया और दक्षिणी ओसेटिया में अलगाववादियों से लड़ रहा है। ताजा अनुमान के हिसाब से मध्य एशियाई गणराज्यों में लगभग तीन खरब बैरल तेलभण्डार है जबकि प्राकृतिक गैस भण्डार नब्बे खरब क्यूबिक मीटर है। मौजूदा बाजार कीमतों के अनुसार इन संसाधनों की कीमत कुछ 40 खरब डालर बैठेगी! यही बात है जो भूतपूर्व सोवियत संघ के मध्य एशियाई गणराज्यों को महत्त्वपूर्ण बनाती है। तेल और प्राकृतिक गैस के सर्वाधिक विशाल भण्डार ताजिकिस्तान, उजबेकिस्तान और किर्गीस्तान में हैं, जिनमें आंतरिक अव्यवस्था की बदौलत हलचल मची हुई है। तुर्कमेनिस्तान के साथ ताजिकिस्तान और उजबेकिस्तान भी अफगानिस्तान से सटे हैं, वहीं वे दूसरी ओर कजाकिस्तान से सटे हैं जो रूस से लगा हुआ है। ऊर्जा संसाधन और दूसरी रणनीतिक चिन्ताएं (चीन से खींचतान) इस समूचे क्षेत्र को बेहद महत्त्वपूर्ण बना देती हैं। और यही चीज अफगानिस्तान को भी महत्त्वपूर्ण बनाती है।

अफगानिस्तान दो वजहों से महत्त्वपूर्ण है। 1996 से अमेरिकी ऊर्जा विभाग अफगानिस्तान से होकर जाने वाली पाइपलाइन की जरूरत पर जोर दे रहा था। फिर 1998 में यूनोकल, जिसने तुर्कमेनिस्तान में भारी मात्रा में पूंजी लगाई है, ने एशिया और प्रशांत क्षेत्र पर अमेरिकी कांग्रेस की उपसमिति को बतलाया कि ऐसी पाइपलाइन कैस्पियन बेसिन के तेल को हिन्द महासागर तक पहुंचाने के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण है। यह आम जानकारी की बात है कि जहां यूरोप में ऊर्जा आवश्यकताएं घट रही हैं वहीं वे एशियाई और

प्रशांत क्षेत्र में तेजी से बढ़ रही हैं। अन्तरराष्ट्रीय तेल उद्योग को जिन बाजारों की चाहत है उनमें से एक भारत भी है। तुर्कमेनिस्तान के प्राकृतिक गैस के कुछ मुख्य बाजारों में से एक के रूप में भारत का नाम भी लिया जा रहा है। 1998 में यूनोकल ने तुर्कमेनिस्तान के दौलताबाद खनिज क्षेत्रों से पाकिस्तान में मुल्तान तक 1.9 अरब डालर की अनुमानित लागत वाली एक महत्त्वाकांक्षी पाइपलाइन बिछाने की योजना बनाई, जिसमें 6 अरब डालर और लगाये जाते तो यह भारत तक आ सकती थी। (ज्ञात हो कि बांग्लादेश में यूनोकल के प्राकृतिक गैस क्षेत्रों के लिए प्रमुख खरीदार भातर ही है और भारत को मुख्य खरीदार के रूप में ध्यान में रखकर ही नेपाल में विश्व बैंक के सहयोग से तमाम हाइड्रो-इलेक्ट्रिक प्रोजेक्ट बन रहे हैं) इसके अतिरिक्त अफगानिस्तान में ज्ञात तेल और गैस भण्डार हैं। रूसियों के अनुमान के अनुसार अफगानिस्तान में तेल भण्डार 980 लाख बैरल तथा गैस भण्डार एक खरब क्यूबिक मीटर है। 1970 के दशक में प्राकृतिक गैस उत्पादन 900 लाख क्यूबिक मीटर जा पहुंचा था। ये भण्डार 1989 में मुहाहिदीन द्वारा बन्द कर दिये गये लेकिन 1999 में तालिबान द्वारा फिर से खोल दिये गये जिन्होंने मजार-ए-शरीफ तक जाने वाली पाइपलाइन की मरम्मत शुरू की। यूनोकल ने 1998 में यह कहते हुए हाथ खींच लिये कि प्रोजेक्ट शुरू करने के लिए तब तक इन्तजार करना पड़ेगा जब तक कि अफगानिस्तान में ''शान्ति और स्थायित्व नहीं आ जाता क्योंकि यह अन्तरराष्ट्रीय एजेन्सियों द्वारा वित्तीय सहायता देने के लिए यह आवश्यक है, और एक ऐसी सरकार नहीं बन जाती जिसे अमेरिका और संयुक्त राष्ट्र से मान्यता प्राप्त हो।'' ''आतंकवाद'' के विरुद्ध बना अमेरिकी गठजोड़ ठीक यही करना चाहता है।

दूसरा कारण यह है कि जो भी अफगानिस्तान पर नियंत्रण रखेगा या जिसकी भी वहां उपस्थिति होगी उसे इस क्षेत्र विशेषकर चीन, रूस, ईरान, पाकिस्तान और भारत की राजनीति को प्रभावित करने में भारी फायदा होगा। यह एक ऐसे चौराहे पर पांव जमाने जैसा होगा जहां रूस, ईरान, चीन, पाकिस्तान, भारत और मध्य एशियाई गणराज्य मिलते हैं। या तो अफगानिस्तान तटस्थ रहते हुए दिग्गजों की राजनीतिक उठापटक में घसीटे जाने से बचेगा या वह किसी एक साम्राज्यवादी शक्ति के प्रभाव में आ जायेगा जो अपनी वहां पर उपस्थिति का फायदा उठायेगी। सैन्य उपस्थिति का अर्थ न सिर्फ दूसरे देश के मामलों में दखल देने की क्षमता होगी, बल्कि जोर-जबरदस्ती वाली कूटनीति के रूप में इसका इस्तेमाल करके धौंसपट्टी में भी मददगार होगी। याद रखें कि अभी ज्यादा समय नहीं बीता है, जब अमेरिकी प्रशासन मुख्य खतरे के रूप में चीन की बात किया करता था। तिब्बत का और चीन के जिनकियांग प्रान्त में उइघुर लोगों का मामला अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर पहले ही सभी का ध्यान आकर्षित कर चुका था। साथ ही कजाकिस्तान और ताजिकिस्तान जैसे मध्य एशियाई गणराज्यों में तेल संसाधनों में चीन का निवेश है और वह अपने इस्तेमाल के लिए तेल और प्राकृतिक गैस की पाइपलाइन का निर्माण कर रहा है। ऐसे में इस क्षेत्र में अमेरिकी मौजूदगी उसकी ऊर्जा सुरक्षा के लिए एक खतरा है। वारवान का गलियारा, जो चीन के जिनकियांग क्षेत्र में खुलता है, प्रशिक्षित आतंकवादियों को चीन में तोड़फोड़ के लिए भेजना अमेरिका के लिए सम्भव बना देगा। ठीक इसी तरह रूस भी जो मध्य एशियाई गणराज्यों के अपने भूतपूर्व उपनिवेशों पर नियंत्रण बहाल करने और अपनी पाइपलाइन को यूरोप में भेजने के लिए हताशा के साथ कोशिश कर रहा है, नाटो के विस्तार से सशंकित है। सचमुच यह दिलचस्प है कि उत्तर-सोवियत विश्व की एक खासियत नाटो का पूर्वी ब्लॉक में विस्तार है। नाटो ने यूगोस्लाविया के विखण्डन में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। साथ ही अब वह बाल्कन क्षेत्र में भी फैल गया है, और अब जॉर्जिया, आर्मेनिया और अजरबैजान जैसे देशों के साथ विशेष सम्बन्ध बनाते हुए कैस्पियन सागरीय क्षेत्र तक नाटो ने अपनी पहुंच बना ली है। आखिरकार इसने उजबेकिस्तान और पाकिस्तान में भी अड्डे बना लिये हैं। याद रहे कि नाटो एक अमेरिका नियंत्रित सैन्य संरचना है। हालांकि अब तक अमेरिका ने नाटो के यूरोपीय सदस्यों को युद्ध अभियानों में सीधा हस्तक्षेप नहीं करने दिया है, लेकिन यह बात साफ है कि यदि युद्ध लम्बा चलता है तो वे भी युद्ध में शामिल हो जायेंगे। ब्रिटेन और तुर्की अभी से ही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। और अगर युद्ध खत्म भी हो जाता है तब भी उनकी उपस्थिति वहां बनी रहेगी। अगर ऐसा नहीं होता है तो काबुल में नयी सरकार बनाने के नाम पर वे अपनी उपस्थिति बनाये रखेंगे।

इस बीच भारी सैनिक तामझाम तैयार हुए हैं। अमेरिका और ब्रिटेन ने अपनी 50000 से भी ज्यादा सैन्य टुकड़ियां तैनात कर दी हैं। इनमें से कुछ ताजिकिस्तान और उजबेकिस्तान के मध्य एशियाई गणराज्यों में तैनात की गयी हैं और खाड़ी राज्यों, हिन्द महासागर और डियेगो गार्सिया द्वीप समूह में अपनी मौजूदा सैन्य उपस्थिति को मजबूत किया है। वे पाकिस्तान में तीन हवाई ठिकानों से अभियान चला रहे हैं। (उन्होंने दो और हवाई ठिकानों के इस्तेमाल के लिए अनुमति मांगी है।) यह सच है कि इस क्षेत्र के अधिकांश देश, पाकिस्तान को छोड़कर, जिसकी बांह मरोड़कर जबरन समर्थन लिया गया है, तालिबान और कायदा से छुटकारा पाकर खुश ही होंगे। लेकिन अच्छी से अच्छी योजनाएं बिखर जाती हैं। पहले ही निर्धारित समय-सीमा आगे खिसक चुकी है। जब युद्ध शुरू हुआ था तो यह दावा किया गया था कि सर्दियां आने से पहले मामला खत्म हो जायेगा। बाद में समय-सीमा अगले साल के जून तक बढ़ा दी गयी। इसके बाद अमेरिकी सरकार ने यह अवधि बढ़ाकर 2 साल कर दी। और अब ताजा खबर यह है कि युद्ध के 4 साल या उससे भी अधिक समय तक चलने की बात हो रही है। जाहिरा तौर पर यह अन्तिम समय-सीमा नहीं है। तो भारत में हमारे लिये इसके क्या निहितार्थ हैं?

अमेरिकी प्रशासन ने भारतीय नीति-निर्धारकों को एक बात साफ तौर पर सम्प्रेषित कर दी है कि अमेरिका-नाटो के मध्य और पश्चिमी एशिया सम्बन्धी जोड़-तोड़ में भारत बहुत ही मामूली भूमिका अदा करता है। चीन का विरोध करने के अभियान में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका के रूप में भारत को देखा जाता है। बिना मांगे ''स्पष्ट और बिना शर्त'' समर्थन देना तो शर्मनाक था ही, लेकिन जो बात भारतीय शासक वर्ग को और हास्यास्पद बना रही है, वह है अन्तरराष्ट्रीय गठबंधन के बाहर छोड़ दिये जाने पर 'खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे' की तर्ज पर नाराजगी दिखाना। जनमत बनाने वालों की राय के विपरीत भारत सरकार को बदली हुई विश्व-परिस्थितियों में कश्मीर मुद्दे पर तगड़ी चुनौती मिलेगी। साथ ही साथ पाकिस्तान को दिये जाने वाले जवाब पर भी

इसकी परख होगी। कोई इससे इनकार नहीं कर सकता कि कश्मीर में आतंक है। वहां पर भारतीय सुरक्षा बलों और फासीवादी जेहादी ग्रुपों द्वारा पैदा किया गया आतंक है। ये जेहादी जिन्हें अब तक पाकिस्तानी सेना का संरक्षण हासिल रहा है, कश्मीरी जनता पर अपना शासन थोपना चाहते हैं, जो अपनी आजादी के लिए लड़ रही है, लेकिन यह सोचना एक गम्भीर भूल होगी कि कश्मीर का सवाल महज आतंकवाद का सवाल है। मुख्य सवाल कश्मीरी जनता के अलगाव और इच्छाओं का है। 'जेहादियों' और पाकिस्तानी सैन्य शासन के बीच विभाजन की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। पाकिस्तानी शासकों का ध्यान अभी उसकी अफगान सीमा पर मची खलबली पर केन्द्रित है इस बात का अहसास करने और आल पार्टी हुर्रियत कांफ्रेंस और साथ ही पाकिस्तान से बातचीत शुरू करने की बजाय भारत सरकार आन्दोलन को कुचलने और पाकिस्तान से बातचीत की हर सम्भावना को खारिज करने की हरसम्भव कोशिश कर रही है और इसके जरिये वह कश्मीर में अमेरिका और नाटो के रूप में अन्तरराष्ट्रीय हस्तक्षेप का रास्ता साफ कर रही है। रोजाना हो रही मौतों की संख्या जून से बढ़ी है। दो महीने के अन्दर ही 450 तथाकथित आतंकवादी मार गिराये गये हैं। अखबारों की खबरों के अनुसार रोज लगभग 10-15 उग्रवादी मारे जा रहे हैं। इस हिसाब से मरने वालों की संख्या और भी बढ़ सकती है। जब आधिकारिक तौर पर ही उग्रवादियों की संख्या तीच-चार हजार से ज्यादा नहीं बतायी जाती (जिनके मुकाबले में पांच लाख सुरक्षा बल लगाये गये हैं) तो जाहिर है कि जो लोग मारे जा रहे हैं वे सभी उग्रवादी नहीं हो सकते।

जहां तक पाकिस्तान का सम्बन्ध है, भारत सरकार अभी भी आत्मकृत अपमान के सदमे से उबर ही रही है। वह अपने बिना शर्त समर्थन के प्रस्ताव को अमेरिका से भाव न मिलने के कारण दुखी है। उसे यह भी डर है कि अमेरिका के साथ समीकरण बिगड़ न जाये। पाकिस्तान की दुर्दशा का लाभ न उठा पाने की अक्षमता भी साल रही है। अमेरिका-नाटो की कश्मीर के इलाके में उपस्थिति और इस उपमहाद्वीप के निवासियों के लिए इसके भयंकर परिणाम को समझना तो दूर की बात वे यह भी नहीं समझ पा रहे कि संकट की घड़ी में अपने पड़ोसी पाकिस्तान के पास जाने का क्या महत्त्व है। तालिबान और ऐसे गिरोहों के निर्माण में पाकिस्तानी सेना का हाथ होने के बावजूद, मामला यह है कि हितों के टकराव ने दोनों के बीच एक खाई बना दी है। जिस रणनीतिक बढ़त का पाकिस्तान फायदा उठा रहा था उसे खतरा पैदा हो चुका है। इन बदली परिस्थितियों में जेहादी, जो कभी सरकार द्वारा संरक्षित थे, बदले के नाम पर जनता पर हमला करके, कबीलाई और जेहादी उलटवार से निपटने की सैन्य शासन की क्षमता को परख सकते हैं। लाखों भारतीयों के पाकिस्तान में रिश्तेदार-नातेदार और मित्रगण हैं। जाहिर सी बात है कि वे उनकी सुरक्षा और कल्याण के बारे में भी वैसा ही महसूस करेंगे, जैसाकि 11 सितम्बर के बाद उन्होंने अमेरिका में अपने सगे-सम्बन्धियों के बारे में किया था, और तब भी वे ऐसा ही महसूस करेंगे जब दक्षिण एशियाई लोग अमेरिकी अंध-राष्ट्रवादियों का आसान शिकार बनेंगे। ऐसा कोई लक्षण नहीं दिखता जिससे ऐसा लगे कि इस समझ का भारत के नीति-निर्धारण में कोई स्थान है।

लेकिन इससे कहीं ज्यादा बड़ी चुनौती जिसे यह सरकार जानबूझकर हवा दे रही है वह है मुसलमान-विरोधी भावनाओं का उभड़ना। विडम्बना यह है कि इस तरह की रिपोर्टों से, कि कैसे अरब-विरोधी और मुस्लिम-विरोधी भावनाओं के परिणामस्वरूप दक्षिण एशियाई सिखों और उत्तरी अमेरिका, यूरोप, आस्ट्रेलिया में रहने वाले हिन्दू आतंकित हो रहे हैं, भाजपा के नेतृत्व वाली राजग सरकार की सोच पर सकारात्मक असर पड़ना चाहिए था। लेकिन विचारधारात्मक नफरतों से छुटकारा पाना मुश्किल होता है। जिस तरह से मुस्लिम संगठनों को निशाना बनाया जा रहा है, उस पर कई प्रेक्षकों ने गौर किया है। अब इस मामले के हाथ से निकल जाने का खतरा है। 27 सितम्बर '01 को स्टूडेण्ट्स इस्लामिक मूवमेण्ट ऑफ इण्डिया (सिमी) पर प्रतिबन्ध लगाये जाने की हरकत मुसलमानों पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए ही की गयी थी ताकि मुसलमानों के प्रति अविश्वास और सन्देह को बढ़ावा दिया जा सके। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि किसी संगठन पर प्रतिबंध लगाने का कदम, चाहे उस संगठन की विचारधारा कुछ भी हो, गलत होने के अलावा कभी कारगर नहीं हुआ है। लेकिन अगर प्रतिबन्ध लगाना जरूरी ही था तो सच्चाई के तकाजे ये थे कि सभी फासीवादी ग्रुपों को अवैध घोषित कर दिया जाता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ।

अमेरिका में आतंकी हमलों के एक सप्ताह पहले इंटेलिजेंस ब्यूरो द्वारा आयोजित पुलिस-महानिदेशकों के 36वें सम्मेलन में आतंकवाद बातचीत का एक प्रमुख मुद्दा था। फिलहाल प्रकट हो रहे सरकारी शुभ वचनों को छोड़ दें तो, ''छद्म-युद्ध'' और ''सीमा पार आतंकवाद'' हमें दिखाते हैं कि किस तरह सिर्फ एक प्रकार के आतंकवाद पर विचार हो रहा है। कई पुलिस महानिदेशक जहां एक तरफ यह कह रहे थे कि सिमी दूसरे देश के आदेश पर विध्वंसकारी गतिविधियों में संलग्न है, वहीं उनका यह मानना था कि बजरंग दल किसी ''राष्ट्र-विरोधी गतिविधियों'' में संलग्न नहीं है और न ही देश की अखण्डता को चुनौती देने के लिए इसे किसी दूसरे देश से ''सीधा समर्थन'' मिल रहा है। अतएव भारतीय जनता के विरुद्ध बजरंग दल का घरेलू आतंकवाद कोई खतरा नहीं है। दरअसल, गृहमंत्री को बजरंग दल, जो देश की सबसे बड़ी निजी सेना है, की एक आतंकवादी संगठन के रूप में व्याख्या करना एक ''चुटकुला'' लगा। लेकिन बजरंग दल-विहिप और एक उदासीन प्रशासन के आतंक के साये में रहने वाले लोगों के लिए यह किसी भी तरह ''चुटकुला'' नहीं है। जब इंसाफ की गुहारों के बावजूद सुरक्षा बल बेगुनाह बने रहते हैं और उनके दिमाग में आतंकवाद की तोड़ी-मरोड़ी गयी धारणायें भरी जाती हैं तो यह निश्चित है कि मुसलमान ही उनके प्रकोप के अन्तर्गत आयेंगे। यह दरअसल उस तरह की नस्ली भावनाओं को उभाड़ने जैसा ही है जिसने अरब लोगों और दक्षिण एशियाई लोगों को अमेरिका में निशाना बना दिया है। सरकारी सेनाओं द्वारा अधिकारों के दुरुपयोग और अत्याचारों के पर्याप्त प्रमाण के बावजूद सुरक्षा बलों का और अधिक सुदृढ़ बनाने की मांगों पर गौर किया जाये तो इस तरह की परिभाषाएं अनिष्टकारी संकेत ही देती हैं। पुलिस सम्मेलन में अपने उद्घाटन भाषण में गृहमंत्री ने बताया कि कैसे खुले युद्ध में बुनियादी अधिकार रद्द कर दिये जाते हैं जबकि एक

(शेष पृष्ठ 59 पर)

दक्षिण एशिया में अमेरिकी साम्राज्यवाद की चुनौती

आनन्द स्वरूप वर्मा

पिछले दो-ढाई महीनों के दौरान अखबारों और राजनेताओं ने जनता को गुमराह करने के लिए ऐसे वक्तव्यों और घोषणाओं को प्रचारित-प्रसारित किया है जिससे यह भ्रम पैदा हो सके कि वर्ल्ड ट्रेड सेंटर और पेंटागन पर 11 सितम्बर को हुए आतंकवादी हमले से भारत भी इतना विचलित हुआ कि उसे अमेरिका के नेतृत्व में चलाये जा रहे आतंकवाद विरोधी अभियान में सक्रिय रूप से शामिल होना पड़ा। इस प्रचार के पीछे मुख्य उद्देश्य वाजपेयी सरकार की अमेरिका के समक्ष काफी पहले से चली आ रही घुटनाटेकू नीति का औचित्य साबित करना था। जिस पार्टी की कोख से भाजपा का जन्म हुआ है अर्थात भारतीय जनसंघउसकी अमेरिका भक्ति काफी पहले से लोगों को मालूम है। जिस विचारधारा के तहत राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का विकास हुआ है उसमें हिटलर और मुसोलनी को कितना सम्मान प्राप्त है इसके लिए कोई भी गुरु गोलवलकर की रचनाओं को पलटकर देख सकता है। चूंकि भारतीय जतना पार्टी इसी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का पोलिटिकल विंग है इसलिए जाहिर है कि गोलवलकर के विचारों को अमल में लाना इसका नैतिक दायित्व है। प्रधानमंत्री वाजपेयी एकाधिक अवसरों पर अपने को 'एक समर्पित स्वयंसेवक' कह चुके हैं इसलिए राजग सरकार में होने की मजबूरियों के बावजूद वह भरसक जितना कर सकते हैं, कर रहे हैं। उन्हें दो मोर्चों पर एक साथ काम करना पड़ता हैएक तो संघ की विचारधारा को कार्यान्वित करना और दूसरे समय-समय पर राजग के सहयोगी दलों के सामने हड्डी के टुकड़े फेंकना जिससे वे संतुष्ट रहें और सरकार चलती रहे। अगर सब कुछ ठीक चलता रहे यानी देश में आंदोलन वगैरह न हो, जनता को गरीबी, बेरोजगारी, महंगाई जैसे मुद्दों पर भड़काने वाले तत्वों का सफाया कर दिया जाये तो यह सरकार अनन्तकाल तक चलती रह सकती है। संघ परिवार को विश्वास है कि उनका 'सरदार पटेल' आडवाणी 'जनता को भड़काने वाले तत्वों' का सफाया कर देगा। जिस विचारधारा का नेतृत्व वाजपेयी-आडवाणी करते हैं उसके अनुसार अमेरिका दुनिया का एक आदर्श राष्ट्र है, इसरायल दुनिया का सबसे बहादुर और देशभक्त राष्ट्र है, और भारत को अगर एक शक्तिशाली हिन्दू राष्ट्र के रूप में विकसित होना है तो उसे अपने तीन दुश्मनों पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। ये तीनों दुश्मन हैंकम्युनिस्ट, मुसलमान और ईसाई। 1939 में गुरु गोलवलकर की लिखी पुस्तक 'वी ऑर आवर नेशनहुड डिफाइंड' को संघ परिवार अपना बाइबिल मानता है। उन्होंने अपनी पुस्तक में मुसलमानों और ईसाइयों को विदेशी माना है। इस पुस्तक के पांचवें अध्याय में अल्पसंख्यकों की समस्या पर विचार करते हुए गुरु जी ने लिखा है

''उन्हें यहां आबादी की मुख्यधारा में अर्थात राष्ट्रीय नस्ल के साथ पूरी तरह समाहित हो जाना चाहिए। यहां की भाषा और संस्कृति को अपना लेना चाहिए। यहां के लोगों की आकांक्षाओं में हिस्सेदारी का पालन करना होगा, अधिकारों अथवा विशेषाधिकारों की तो बात ही छोड़िये उन्हें किसी तरह का विशेष संरक्षण भी नहीं प्राप्त होगा। विदेशी तत्वों के सामने केवल दो ही रास्ते हैंया तो वे राष्ट्रीय नस्ल के साथ अपने को पूरी तरह मिला लें और उसकी संस्कृति को अपना लें या जब तक राष्ट्रीय नस्ल उन्हें भारत में रहने की अनुमति दे तब तक उनकी दया पर निर्भर होकर रहें। राष्ट्रीय नस्ल की जब इच्छा हो कि वे देश छोड़कर चले जायें, तो वे चुपचाप चले जायें। अल्पसंख्यकों की समस्या पर यही एकमात्र ठोस दृष्टिकोण हो सकता है। यही एकमात्र तर्कपूर्ण और सही समाधान है। केवल इसी तरीके से राष्ट्रीय जीवन को स्वस्थ और गड़बड़ी से मुक्त रखा जा सकता है। केवल इसी तरीके से देश की राजनीति में उस कैंसर को विकसित होने के खतरे से रोका जा सकता है जो राज्य के अन्दर एक और राज्य का निर्माण करता है। इस दृष्टिकोण से, जिसका उल्लेख प्राचीन कुशल राष्ट्रों के अनुभव के आधार पर किया गया है, हिन्दुस्तान में विदेशी नस्लों को चाहिए कि वे हिन्दू संस्कृति और भाषा को अपना लें, हिन्दू धर्म का सम्मान करना सीखें, हिन्दू नस्ल और संस्कृति अर्थात हिन्दू राष्ट्र को गौरवान्वित करने वाले विचारों के अलावा और किसी भी विचार को अपने यहां स्थान न दें और हिन्दू नस्ल में शामिल होने के लिए अपने प्रथम अस्तित्व को भूल जायें अथवा देश में अगर रहें तो पूरी तरह हिन्दू राष्ट्र के अधीन बनकर रहें जिसमें उनका कोई दावा न हो, उन्हें किसी तरह की सुविधा न मिले; विशेष व्यवहार की तो बात ही छोड दीजिये यहां तक कि उन्हें नागरिक होने का भी अधिकार न मिले। इसके अलावा उनके सामने और कोई रास्ता नहीं है। हम एक प्राचीन राष्ट्र हैं और हमें विदेशी नस्लों के साथ, जिन्होंने रहने के लिए हमारे देश को चुना है, वैसा ही बर्ताव करना चाहिए जैसा कोई प्राचीन राष्ट्र करता है।''

आडवाणी और वाजपेयी के पास गोलवलकर हैं तो राष्ट्रपति जार्ज डब्ल्यू बुश को गोलवलकर के आधुनिक और परिष्कृत संस्करण के रूप में सैमुएल हटिंगटन मिल गये हैं। इनकी बहुचर्चित पुस्तक 'सभ्यताओं के संघर्ष' को बुश और टोनी ब्लेयर ने अपना 'बाइबिल' बना लिया है। इन्होंने इस्लाम को मुख्य दुश्मन के रूप में चिह्नित किया है। साम्यवाद से इनकी पुरानी दुश्मनी है ही। अमेरिका के रूप में फिलहाल संघ परिवार के पास एक ऐसा दोस्त है जिसके दो दुश्मन वहीं जिन्हें संघ परिवार भी अपना दुश्मन समझता है। जाहिर है कि ऐसी स्थिति में लम्बे समय तक संबंध निभाये जा सकते हैं।

वाजपेयी सरकार की अमेरिका-भक्ति इस

समय इतनी जोर मार रही है कि अभी हाल में जम्मू कश्मीर विधानसभा भवन पर हुए आतंकवादी हमले के बाद उन्होंने फौरन अमेरिकी राष्ट्रपति बुश को पत्र लिखकर उनसे गुहार की कि वे पाकिस्तान को सबक सिखायें। पोखरन परमाणु परीक्षण के बाद भी प्रधानमंत्री वाजपेयी ने इसकी सूचना सबसे पहले क्लिंटन को दी थी। हालत आज यह हो गयी है कि कश्मीर समस्या को द्विपक्षीय समस्या के रूप में पिछले 50 वर्षों से चित्रित करते हुए आज इसे एक अन्तरराष्ट्रीय समस्या बना दिया गया और अब तो अमेरिका को एक तरह से खुली दावत दे दी गयी है कि आप आइये और इस समस्या को हल कराइये। 11 सितम्बर को हुए आतंकवादी हमले के बाद खुद प्रधानमंत्री वाजपेयी ने बुश के सामने यह प्रस्ताव रखा कि जरूरत पड़ने पर वह अपने सैनिक अभियान के लिए भारत का हर तरह से इस्तेमाल कर सकते हैं उस समय ऐसा लग रहा था कि जैसे आतंकवादी हमले का शिकार अमेरिका नहीं बल्कि भारत ही हुआ है। जिन लोगों ने 13 सितम्बर को वाजपेयी को राष्ट्र के नाम संदेश प्रसारित करते टेलीविजन पर देखा होगा उन्हें ऐसा ही महसूस हुआ होगा जैसे भारत के खिलाफ किसी ने युद्ध की घोषणा कर दी हो। विदेश मंत्री जसवंत सिंह तो अप्रैल महीने से ही अमेरिका के बेहद मुरीद हो गये हैं जब से उन्हें पेंटागन में गॉर्ड आफ ऑनर मिला। इतना ही नहीं अमेरिका की राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार कोंडालेजा राइस के कमरे मं जब वह बैठे थे तभी उधर से राष्ट्रपति बुश गुजरे और उन्होंने जसवंत सिंह के कंधे को थपथपाते हुए कहा आप यहां क्यों बैठे हैं, चलिये ओवल हाउस में बैठें। हमारे विदेशी मंत्री का जीवन धन्य हो गया। इसके बाद उन्होंने एक इंटरव्यू में राष्ट्रपति बुश की भूरि-भूरि प्रशंसा की। वह अभिभूत थे कि अमेरिकी राष्ट्रपति ने अपनी व्यस्तता से समय निकालकर बिना किसी पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के पैंतालिस मिनट तक बातचीत की। इस मेहमानवाजी का हमारे विदेश मंत्री पर इतना गहरा असर पड़ा कि मई में उन्होंने अमेरिका की नेशनल मिसाइल डिफेंस सिस्टम को भारत की स्वीकृति दे दी जबकि खुद यूरोप में अमेरिका के सहयोगी देश स्वीकृति देने को तैयार नहीं थे। मजे की बात यह है कि महज एक वर्ष पूर्व जसवंत सिंह ने एन.एम.डी. को स्वीकृति देने के सवाल पर कहा था कि'हम बराबर वाह्य अंतरिक्ष के सैनिकीकरण का विरोध करते रहे हैं। नेशनल मिसाइल डिफेंस सिस्टम निःशस्त्रीकरण के व्यापक आन्दोलन पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगा जबकि भारत इसका घोर समर्थक है। हमारी यह धारणा है कि टेक्नालॉजी से सम्बद्ध श्रेष्ठता की विश्व के अन्य हिस्सों में उल्टी प्रतिक्रिया होगी और इस प्रकार हथियारों की एक नयी होड़ शुरू हो जायेगी। इसलिए हम एन.एम.डी. को अपना समर्थन नहीं दे सकते।' अमेरिका से लौटने के बाद उन्हें अपना यह कथन याद ही नहीं रहा।

दोस्ती का आलम यह था कि दो सितम्बर को जार्ज बुश ने प्रधानमंत्री वाजपेयी को एक संदेश भेजकर पूछा कि क्या वह सितम्बर में अपनी अमेरिका यात्रा के दौरान 'उभरते लोकतंत्रों' (emerging democracies) के नेताओं को भोज देने में उनके साथ संयुक्त रूप से मेजबानी करने के लिए तैयार हैं। जार्ज बुश ने यह दावत 26 सितम्बर के लिए तय की थी लेकिन वाजपेयी की सुविधा को देखते हुए इसे 25 सितम्बर कर दिया गया। इसका एक मकसद दुनिया के सामने यह दिखाना था कि अमेरिका ने दक्षिण एशिया में भारत को अपने 'पार्टनर' का दर्जा दे दिया है। इसका दूसरा मकसद पाकिस्तान को नीचा दिखाकर भारत को खुश करना था। चूंकि पाकिस्तान में लोकतंत्र नहीं है, इसलिए मुशर्रफ को इस भोज में निमंत्रित करने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। 11 सितम्बर की घटना के कारण यह सारा कार्यक्रम रद्द करना पड़ा।

3 सितम्बर को भारत में अमेरिका के मनोनीत राजदूत रॉबर्ट ब्लैकविल ने अपने पहले भाषण में नई दिल्ली में कहा कि अमेरिका भारत के साथ महज द्विपक्षीय मुद्दों पर सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहतावह चाहता है कि अन्तरराष्ट्रीय मामलों से निबटने में भारत अमेरिका के पार्टनर की भूमिका निभाये। 7 सितम्बर को ब्लैकविल ने मुम्बई में कहा कि उनके भारत रवाना होने से पूर्व राष्ट्रपति बुश ने उनसे कहा कि वह भारत को एक बड़ी शक्ति के रूप में देखना चाहते हैं इसलिए अन्तरराष्ट्रीय समुदाय के समक्ष उत्पन्न कठिनाइयों को हल करने में वह भारत के साथ मिलकर काम करना चाहते हैं। वैसे, मई में अमेरिका की सहायक विदेश मंत्री क्रिस्टीना बी. रोक्का ने भी कहा था कि भारत अब विश्वस्तर की एक ताकत बन गया है। जहां तक अमेरिका के साथ सैन्य सम्बन्धों की बात है 7 अप्रैल को ही जसवंत सिंह ने वाशिंगटन में पी.टी.आई. को बताया था कि अमेरिकी विदेश मंत्री डोनाल्ड रम्सफेल्ड के साथ रक्षा सहयोग से सम्बन्धित एक समझौता सम्पन्न हो गया है। उन्होंने यह भी कहा था कि इसका विवरण वह मंत्रिमंडल की स्वीकृति के बाद देंगे।

ये सारी घटनायें 11 सितम्बर के पहले की हैं।

आज सारी दुनिया यह मान रही है कि दक्षिण एशिया स्थायी तौर पर अमेरिका का युद्धस्थल बनने जा रहा है। क्या इसकी जानकारी हमारे प्रधानमंत्री और विदेशमंत्री को नहीं है? क्या हम आज अकारण ही युद्ध के कगार पर नहीं पहुंच गये हैं? आतंकवाद का सफाया करने के नाम पर अमेरिका के नेतृत्व में तमाम साम्राज्यवादी शक्तियां काफी समय से इस अवसर की तलाश में थीं कि वे दक्षिण एशिया में अपने सैनिक अड्डे स्थापित कर सकें। 11 सितम्बर की घटना ने अमेरिका के लिए अपनी सैनिक रणनीति को अमली जामा पहनाने का सुनहरा अवसर दे दिया। वर्ल्ड ट्रेड सेंटर और पेंटागन पर किसने हमला कियाइसकी जानकारी न तो किसी के पास है और न ऐसा लगता है कि कभी किसी को पता चल सकेगा। इतने सारे देश अमेरिकी आतंक के शिकार हो चुके है कि कब कौन अमेरिका के लिए मुसीबत बन जाये यह कहना मुश्किल है। प्रख्यात अमेरिकी बुद्धिजीवी नोम चोम्स्की ने सूडान, इराक, लेबनान, फिलीस्तीन सहित अनेक देशों के नाम गिनाये जो अमेरिकी आतंक झेल चुके हैं। इनमें से कोई भी किसी भी समय या कई देशों के अमेरिका विरोधी आतंकवादी संगठन मिलकर इस तरह की कार्रवाई को अंजाम दे सकते हैं। जॉर्ज बुश का कहना है कि यह हमला ओसामा बिन लादेन ने किया। अमेरिका के रक्षामंत्री डोनाल्ड रम्सफेल्ड का कहना है कि उनकी सरकार के पास इस बात को मानने के पर्याप्त कारण हैं कि इन हमलों को कई देशों का समर्थन प्राप्त था। रायटर द्वारा जारी एक समाचार के अनुसार रम्सफेल्ड ने कहा कि उनके पास पर्याप्त जानकारी है कि किन देशों ने आतंकवादी की मदद की लेकिन साथ ही उन्होंने यह भी कहा

कि 'मुझे ये मुद्दा न्याय विभाग, संघीय जांच ब्यूरो तथा खुफिया एजेंसियों पर छोड़ देना चाहिए।' इसी रिपोर्ट में एक अमेरिकी अधिकारी के हवाले से बताया गया है कि उनके पास इस बात का कोई ठोस सबूत नहीं है कि इस हमले में कौन शामिल था। इन बातों से पता चलता है कि राष्ट्रपति बुश भले ही यह कह रहे हों कि हमले में ओसामा बिन लादेन का हाथ है लेकिन अमेरिका के पास इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं है।

पिछले कुछ वर्षों से जो लोग अमेरिकी विदेशी नीति पर ध्यान दे रहे हों उन्होंने गौर किया होगा कि अमेरिका काफी समय से दक्षिण एशिया में अपने पांव जमाने का बहाना ढूंढ़ रहा था। इस समय वह तालिबान का सफाया करने और सारी दुनिया से हमेशा-हमेशा के लिए आतंकवाद को समाप्त करने के लिए यहां आया है। अगर पिछले दस वर्षों के दौरान अमेरिकी विदेश विभाग, अमेरिकी रक्षा विभाग और अमेरिका की विभिन्न खुफिया एजेंसियों की रिपोर्ट देखें तो इनसे यही पता चलता है कि इन सारी रिपोर्टों में क्लिंटन से लेकर बुश तक दोनों राष्ट्रपतियों को सलाह दी गयी है कि वे अपना ध्यान यूरोप से हटायें क्योंकि सोवियत संघ के विघटन के बाद यूरोप में अब कम्युनिज्म का कोई खतरा नहीं है। उन्हें अब सारा ध्यान दक्षिण एशिया पर लगाना चाहिए। इसकी वजह यह है कि आने वाले दिनों में राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में सबसे गम्भीर चुनौती चीन से मिलने वाली है। यहां एक रिपोर्ट का उल्लेख प्रासंगिक है। यह रिपोर्ट अमेरिकी डिफेंस इंटेलिजेंस एजेंसी के डायरेक्टर लेफ्टिनेन्ट जनरल पैट्रिक एम. ह्यूज ने तैयार की है। इसे उन्होंने 5 फरवरी 1997 को 'सिनेट सेलेक्ट कमेटी ऑन इंटेलिजेंस' को सौंपा। इस रिपोर्ट में उन खतरों और चुनौतियों की चर्चा की गयी है जिनका मुकाबला आने वाले दिनों में अमेरिका को करना पड़ सकता है। इस रिपोर्ट में बताया गया है कि शीत युद्ध की समाप्ति के तीन नतीजे देखने में आये। पहला, साम्यवाद का पतन, दूसरा, सोवियत संघ का अंत और तीसरा द्विध्रुवीय प्रतिस्पर्धा में रुकावट। लेकिन इसी रिपोर्ट में आगे चलकर यह भी बताया गया है कि नयी चुनौतियां किन कारणों से पैदा हो रही हैं। इसके लिए कई कारण गिनाये गये हैं जिनमें से एक है ऐसी विचारधारा का उदय जो अमेरिकी आदर्शों, मूल्यों और अवधारणाओं के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख रखती हो। उन क्षेत्रों में जिनके साथ अमेरिका के हित घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं, क्षेत्रीय अथवा स्थानीय अस्थिरता को भी एक कारण के रूप में चिह्नित किया गया है। इसके अलावा एक बात और कही गयी है कि कुछ देशों में सैनिक तौर पर ऐसी क्षमताओं का विकास हो रहा है जो युद्ध लड़ने की अमेरिकी क्षमता को कम करके आंकती है। रिपोर्ट में कहा गया है कि 'चीन उन गिनी चुनी शक्तियों में से एक है जो अगले 10-20 वर्षों में राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक क्षेत्र में अमेरिकी हितों के लिए जबर्दस्त खतरा बन सकता है।' वैसे, चीन के साथ-साथ वह रूस को भी खतरे के रूप में रेखांकित करता है लेकिन वह निश्चिंत है कि 'रूस के पास इतने संसाधन नहीं हैं कि वह खुद को अमेरिका के मुकाबले मैदान में ला सके।'

जिस रिपोर्ट का यहां जिक्र किया है वह फरवरी 1997 में तैयार हो गयी थी। ध्यान देने की बात है कि 13 फरवरी 1996 को नेपाल में माओवादियों ने जनयुद्ध की घोषणा की। अर्थात इस रिपोर्ट के तैयार होने तक माओवादी जनयुद्ध शुरू हुए अभी एक वर्ष ही बीतता था। खुद नेपाल में राजनेताओं से लेकर अखबारों तक सब यही राय जाहिर करते थे कि माओवादियों का आन्दोलन अधिक से अधिक छह महीने अथवा एक साल तक चल पायेगा और इसके बाद दम तोड़ देगा। अनेक देशों में ऐसा हुआ भी है। अमेरिकी भी यही मानते थे। लेकिन नेपाल में कुछ और हो गया। माओवादी जनयुद्ध लगातार बढ़ता ही चला गया और पांच वर्ष के अंदर उसने समूचे देश को अपने प्रभाव में ले लिया। इस परिघटना से अमेरिका की चिंता काफी बढ़ गयी। चीन को काउंटर करने के लिए वह भारत को अपना केन्द्र बनाना चाहता था लेकिन अब उसके सामने एक और समस्या पैदा हो गयी। जाहिर है कि उसके लिए अपनी रणनीति को लागू करना और भी ज्यादा जरूरी हो गया। उसके विशेषज्ञों का आकलन था कि भले ही नेपाल के माओवादी चीन की कम्युनिस्ट पार्टी को संशोधनवादी अर्थात क्रान्तिविरोधी क्यों न मानते हों पर यदि वे सत्ता में आ गये तो उनका 'सहज मित्र' यानी नेचुरल एलाई चीन ही होगा। अगर ऐसा हो गया तो स्थिति गम्भीर हो जायेगी। अमेरिका की अनेक खुफिया एजेंसियों ने इस स्थिति पर चिन्ता व्यक्त की। 'स्ट्राटफॉर' नामक एक खुफिया एजेंसी ने 'ग्लोबल इंटेलिजेंस अपडेट' शीर्षक से 4 जनवरी 2000 को एक रिपोर्ट जारी की। इसमें कहा गया है कि 'आने वाले दिनों में नेपाल काफी कठिन दौर से गुजर सकता है जिसमें हो सकता है कि उसकी समूची राजनीतिक प्रणाली का रूपांतरण बहुदलीय जनतंत्र कम्युनिस्ट सत्ता के रूप में हो जाये। अगर मौजूदा प्रवृत्तियों में कोई तब्दीली नहीं हुई तो इसके फलस्वरूप वहां की सरकार ध्वस्त हो सकती है और माओवादी विद्रोही सफल हो सकते हैं। ऐसी हालत में चीन को भौगोलिक-राजनीतिक दृष्टि से अद्भुत लाभ मिलेगा और भारत के सामने गम्भीर समस्या पैदा हो जायेगी। नेपाल की भावी सरकार माओवादियों के हाथ में जाये या कम्युनिस्टों के हाथ में, इस सरकार का स्वाभाविक तौर पर झुकाव चीन की तरफ होगा और यह अपने यहां चीन को अन्य देशों पर निगरानी रखने के लिए सैनिक सुविधायें देगी. .. अगर ऐसा हुआ तो इसका सामरिक लाभ चीन को मिलेगा जो मध्य एशिया से लेकर दक्षिण पूर्वी एशिया तक फैले बड़े भू-भाग पर निगरानी रख सकेगा। नेपाल में चीन की मौजूदगी हिन्द महासागर में अमेरिकी नौसैनिक बेड़ों के लिए मुसीबत पैदा कर देगी। चीन यहां से निरन्तर अमेरिकी सैनिक क्षमता पर निगाह रख सकेगा।' इतना ही नहीं अमेरिका को यह भी डर है कि अगर नेपाल में माओवादियों को सफलता मिलती है तो दलाई लामा को लेकर नेपाल के जरिये अमेरिका वर्षों से जो चीन विरोधी अभियान चला रहा है उसमें भी रुकावट आयेगी।

एक और महत्त्वपूर्ण घटना ध्यान देने योग्य है जिससे पता चलता है कि अमेरिका के लिए दक्षिण एशिया क्यों इतना महत्त्वपूर्ण हो गया है। अप्रैल 1996 में 'शंघाई पांच' नामक एक ग्रुप का गठन हुआ जिसका मुख्य मकसद इस क्षेत्र से अमेरिका को दूर रखना था। इस ग्रुप में चीन और रूस के अलावा मध्य एशिया के तीन महत्त्वपूर्ण देश कजाकिस्तान, किर्गिजस्तान और ताजिकिस्तान शामिल हैं। इस ग्रुप की पहली बैठक शंघाई में हुई और सदस्य देशों के विदेश मंत्रियों की प्रतिवर्ष नियमित बैठक होती है। जुलाई 2000 में दुसानबे में आयोजित शिखर सम्मेलन के बाद जो संयुक्त विज्ञप्ति जारी की

गयी उसमें खुले शब्दों में कहा गया कि यह समूह 'मानवता' अथवा 'मानव अधिकारों की रक्षा' के नाम पर आंतरिक मामलों में किसी भी दूसरे देश के हस्तक्षेप का विरोध करेगा। इसमें यह भी कहा गया कि 'पांचों देश एक दूसरे की राष्ट्रीय स्वाधीनता, संप्रभुता और क्षेत्रीय अखंडता और सामाजिक स्थिरता की रक्षा के लिए परस्पर सहयोग करेंगे।' इस अवसर पर चीनी राष्ट्रपति ज्यांग जेमिन ने जो भाषण दिया था उससे साफ पता चलता था कि संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद की स्वीकृति लिए बिना अमेरिका मनमाने ढंग से दूसरे देशों के आंतरिक मामलों में जो हस्तक्षेप करता रहता है, उसका 'शंघाई पांच' समूह विरोध करता है। वैसे भी यह बात किसी से छिपी नहीं है कि इस समूह का गठन अमेरिकी प्रभुत्व के खिलाफ किया गया है। यह समूह अफगानिस्तान में तालिबान के खिलाफ भी रहा है क्योंकि तालिबान को सत्ता में लाने का श्रेय अमेरिका को है। इसके अलावा मध्य एशिया के उदारवादी मुस्लिम देशों पर कट्टरपंथी तालिबान बराबर आक्रमण करता रहा है। यही वजह है कि 'शंघाई पांच' में जब पाकिस्तान ने शामिल होने की पेशकश की तो इस समूह ने उसे तालिबानी समर्थक कह कर नामंजूर कर दिया।

अफगानिस्तान पर अमेरिकी हमले को इस समूचे परिदृश्य के साथ देखा जाये तो यह बात समझ में आ सकती है कि क्यों दक्षिण एशिया में आने के लिए अमेरिका इतना बेताब था। भारत का सत्ताधारी वर्ग भी यह नहीं चाहेगा कि उसके पड़ोस में माओवादियों का शासन हो। ऐसी स्थिति में अमेरिका और भारत के हित मेल खा जाते हैं। इस बारे में भी किसी को संदेह नहीं होना चाहिए कि अगर नेपाल में माओवादी सत्ता में आने के करीब पहुचेंगे तो भारत निश्चय ही सैनिक हस्तक्षेप करेगा। ऐसा वह अमेरिका के कहने पर करेगा। वह अमेरिका के लिए एक प्राक्सी वार में शामिल हो जायेगा। पिछले कुछ वर्षों से यहां का मीडिया और खास तौर से वे अखबार जो भारत-नेपाल सीमा क्षेत्रों में काफी पढ़े जाते हैंहिन्दी के अखबारउनमें लगातार यह खबरें छपती रही हैं कि नेपाल में तेजी से आई एस आई के अड्डे स्थापित हो रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं कि नेपाल में आई एस आई के अड्डे होंगे जिस तरह भारत में हैं। यह कोई नयी बात नहीं है। लेकिन जितने भयावह रूप में अखबारों में चित्रित किया जा रहा है उससे अमेरिका और भारत की दूरगामी रणनीति का पता चलता है। ऐसा माहौल बनाया जा रहा है जिसमें अगर जरूरत पड़े तो आई एस आई के अड्डों को ध्वस्त करने के नाम पर भारतीय सेना नेपाल के अंदर प्रवेश कर सके। पड़ोसी देशों में सेना भेजने का भारत को काफी अभ्यास है। उसने मुक्तिवाहिनी के नाम पर बांग्लादेश में सेना भेजी। उसने शान्ति सैनिकों के नाम पर श्रीलंका में सेना भेजी। आंतरिक विद्रोह का दमन करने के नाम पर उसने मालदीव में सेना भेजी। माओवादियों का सफाया करने के लिए वह नेपाल में भी सेना भेज सकती है और यह कहकर कि आई एस आई के अड्डों का सफाया करने का अभियान चलाया जा रहा है वह संघ परिवार के 'राष्ट्रभक्त सपूतों' का समर्थन भी हासिल कर सकती है।

नेपाल का माओवादी आंदोलन अमेरिका के एजेंडा में इसलिए भी बहुत महत्त्व रखता है क्योंकि सोवियत संघ के विघटन के बाद वह सारी दुनिया से कम्युनिज्म के सफाये का ढोल पीटता रहा है। अमेरिका के इरादों का पता इससे भी चलता है कि उसने अफगान-युद्ध के लिए नेपाल की धरती का इस्तेमाल करने की इच्छा जाहिर की है। अपने बमवर्षकों में ईंधन भरने के लिए नेपाल से जगह मांगी है। अभी 24 सितम्बर को नेपाल की 10 वामपंथी पार्टियों ने एक संयुक्त बयान जारी कर प्रधानमंत्री शेर बहादुर देउबा से कहा है कि वह अमेरिका को इस तरह की सुविधायें न दे। वहां के प्रमुख विपक्षी दल नेकपा (एमाले) ने भी ऐसा ही कहा है। भारतीय विदेश मंत्री जसवंत सिंह 11 सितम्बर की घटना के बाद अमेरिका गये और वहां से लौटने पर उन्होंने एक वक्तव्य में माओवादियों को 'आतंकवादी' कहा। खुद नेपाल के अखबार इन्हें 'माओवादी विद्रोही' (माओइस्ट रेबेल) कहते रहे हैं पर जसवंत सिंह की निगाह में वे आतंकवादी हैं। नेपाल में लगातार अमेरिका के खिलाफ और जसवंत सिंह के इस बयान के खिलाफ प्रदर्शन हुए।

अमेरिका की शह पर भारत अपने को एक छोटी-मोटी महाशक्ति मानने लगा है। 18 मई को अमेरिका की सहायक विदेश मंत्री क्रिस्टीना बी. रोक्का ने एक वक्तव्य में कहा भी था कि 'भारत अब विश्वस्तर की एक ताकत बन गया है...आज भारत और अमेरिका के साथ मिलकर काम करने की पर्याप्त संभावनाएं हैं। दोनों परस्पर एक-दूसरे के लिए अच्छे साझीदार साबित हो सकते हैं।' भारत के बाजार पर अमेरिका की निगाह पहले से ही जमी हुई है और वहां की बहुराष्ट्रीय कम्पनियां यहां जिस तरह का शोषण कर रही हैं उससे सभी परिचित हैं। आज अमेरिका को भारत का बाजार भी चाहिए और अरब देशों का तेल भी। इसीलिए उसे भारत भी चाहिए और पाकिस्तान भी। लेकिन उसकी यह चाहत हमारे लिए कितनी बड़ी मुसीबत साबित होने जा रही है, इस पर ध्यान देना जरूरी है। अगर यहां की जनतांत्रिक शक्तियों ने समय रहते इस पर ध्यान नहीं दिया तो आर्थिक के साथ-साथ राजनीतिक तौर पर भी अमेरिकी साम्राज्यवाद का गुलाम बनने से हमें कोई रोक नहीं सकता। ●

11 सितम्बर के बाद से अमेरिका में मीडिया पर लगे अंकुशों पर इंटरनेट पर प्रचलित एक कार्टून

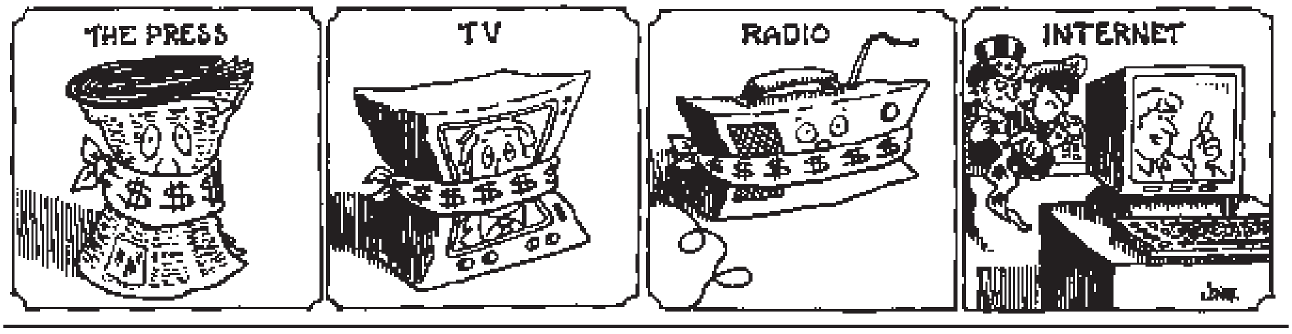

जनता की सुरक्षा के लिए जरूरी क्या है?

गौतम नवलखा

कश्मीरी अवाम की त्रासद नियति और पूर्वोत्तर राज्यों में चल रहे संघर्ष की सच्चाइयों पर केन्द्रित यह लेख जब लेखक ने लिखा था तब से स्थितियां और भी संकटपूर्ण हुई हैं और कई तरह के नये उलझाव भी पैदा हुए हैं। विशेषकर, 13 दिसम्बर को भारतीय संसद पर आतंकवादी हमले के बहाने पाकिस्तान के साथ युद्ध जैसी स्थितियां उत्पन्न होने और अपने अनुकूल अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए शासक वर्ग ने इन संघर्षों पर दबाव और भी अधिक बढ़ा दिया है। जाहिर है कि लेख को पढ़ते समय पाठक स्थितियों में हुए इस बदलाव को भी ध्यान में अवश्य रखेंगे। सम्पादक

चन्द लोगों की स्वार्थसिद्धि में लगे राष्ट्रवाद के युग में शासक अधिक से अधिक यही कर सकते हैं कि अपने हितों के प्रति प्रबुद्ध नजरिया अपनायें। लेकिन शासक वर्गों का स्वाभाविक रूप से इस ओर झुकाव नहीं होता। परिस्थितियां और सचेत जनमत उन्हें कुछ बदलावों के लिए बाध्य कर सकते हैं इसका एक हाल का उदाहरण राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन सरकार द्वारा परमाणु हथियारों की विशेषाधिकारपूर्ण स्थिति को समाप्त करना है। परमाणु क्षमता बरकरार है और प्रक्षेपास्त्र प्रणाली के विकास का काम रुक-रुककर चल रहा है, लेकिन परमाणु मुखास्त्रों की तैनाती का काम फिलहाल रुका हुआ हैयह एक तरह से पोखरण-दो के पहले के दौर में वापसी है। इससे भारत और पाकिस्तान के बीच परमाणु हथियारों को लेकर उपजी आशंकायें काफी कम हुई हैं जिससे कश्मीर का मुद्दा अपने त्रिपक्षीय आयामों के साथ फिर से रंगमंच पर आ गया है। यह बदलाव अन्तरराष्ट्रीय दबाव के साथ-साथ देश के भीतर हुए व्यापक विरोध का भी प्रतिफल है। दूसरे शब्दों में, नीतियों पर से रहस्य का पर्दा हटाकर और वास्तविक मुद्दों को सामने लाकर नीति-निर्माताओं को सरकार के दमनतंत्र को और मजबूत बनाने से रोका जा सकता है। ऐसा करने के लिए सैन्य आवण्टन के आकार का ठीक-ठीक पता लगाने से शुरुआत की जानी चाहिए।

सैनिक व्यय के तहत कौन-कौन से मद आते हैं? सेना के लिए आवंटित संसाधनों को जान-बूझकर कम आंका जाता है। इसकी कोई वजह नहीं है कि सुरक्षा बलों की पेंशन को सेना पर आवंटन की गणित से लग रखने जाये जबकि इससे भूतपूर्व सैनिकों की क्षतिपूर्ति होती है। आडिटरों के दृष्टिकोण से उसे देनदारी कहा जा सकता है लेकिन इस मद में सालाना जो भुगतान किया जाता है। उसे सेना पर व्यय माना जाना चाहिए। इसके अतिरिकत यह भी ज्ञात है कि भारत की आणविक ऊर्जा और अंतरिक्ष विकास कार्यक्रम के असैनिक उद्देश्यों के साथ-साथ सैनिक उद्देश्य भी हैं। पोखरन-II के बाद भ्रम की कोई गुंजाइश नहीं रह गयी है। इसलिए इन दो विभागों के आवंटन का पचास प्रतिशत भी सेना पर आवंटन में शामिल किया जाना चाहिए। भारत सरकार का यह भी सुविचारित मत है कि आंतरिक सुरक्षा और बाह्य सुरक्षा आपस में गुंथी हुई हैं और सेना तथा अर्द्ध सैनिक बलों का उपयोग व्यापक है। ऐसी हालत में असम राइफल्स, सीमा सुरक्षा बल, भारत-तिब्बत सीमा पुलिस, जम्मू और कश्मीर लाइट इन्फैन्ट्री के लिए आवंटन को सेना बजट से अलग नहीं रखा जा सकता है। इसके अलावा असम राइफल्स और कश्मीर लाइट इन्फैन्ट्री सैनिक कार्रवाई तो सेना कमाने के अधीन करते हैं जबकि उन पर आवंटन को गृह मंत्रालय के आवंटन में शरीक किया जाता है।

स्टाकहोम इंटरनेशनल पीस रिसर्च इन्स्टीट्यूट (SIPRI) की परिभाषा को मार्गदर्शक मान लेने पर उपर्युक्त विवेचन विश्वसनीयता हासिल कर लेता है। इस परिभाषा में एक शांति स्थापना में लगे बलों सहित समस्त सशस्त्र बलों (ब) सुरक्षा मंत्रालयों तथा सुरक्षा परियोजनाओं में कार्यरत अन्य सरकारी एजेन्सियों (स) सेना के समान प्रशिक्षित और सज्जित अर्द्ध-सैनिक बलों (द) अंतरिक्ष में सैनिक गतिविधियों पर समस्त चालू और पूंजीगत व्यय लिया गया है।' सेना कर्मियों की सेवानिवृत्ति पेंशन और कर्मियों के लिए सामाजिक सेवा पर किये गये व्यय सहित सेना कर्मी तथा असैनिक कर्मी पर व्यय को इसमें सम्मिलित करना चाहिए। चूंकि सिपरी (SIPRI) भारत सरकार द्वारा प्रस्तुत 'रक्षा बजट' में दिये गये मदों को सूचीबद्ध करने तक अपने को सीमित रखता है और अपने आंकड़ों में इन दिशा-निर्देशों का अनुसरण नहीं करता है, इसकी कोई वजह नहीं है कि हम भी इस परिभाषा से विचलित हो जायें। इस तथ्य के बावजूद कि रक्षा मंत्रालय के व्यय में नेशनल कैडेट कोर, तट रक्षक और सीमा सड़क संगठन के असैनिक व्यय को छोड़ दिया गया है, 2001-2002 में सैनिक क्षेत्र पर बजट आकलन 81,107 करोड़ रुपये आता है। (देखें तालिका-1) यह व्यय भारत सरकार के कुल व्यय 375,223 करोड़ रुपये का लगभग 22 प्रतिशत, आयोजनेत्तर व्यय 275,123 करोड़ का लगभग 30 प्रतिशत और 2002-2002 के सकल घरेलू उत्पाद का 3.85 प्रतिशत है।

यह आवंटन तथाकथित खतरों, क्षमताओं, भौगोलिक-सामरिक स्थिति और देश द्वारा निभाये जाने वाली भूमिका पर आधारित होता

है। लेकिन इन निष्कर्षो की सच्चाई को परखने के साधन से जनता वंचित होती है। यह नीति उन लोगों द्वारा गोपनीय तरीके से निर्धारित की जाती है जो जनता के प्रति सीधे उत्तरदायी नहीं होते हैं। यहां तक कि वे जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के साथ सुरक्षा जरूरतों पर विमर्श करने की परवाह नहीं करते हैं जबकि इन प्रतिनिधियों के पास विशेषाधिकार को चुनौती देने की भी शक्ति होती है। जहां तक जनता का सवाल है यह उसके 'जानने के अधिकार' का निषिद्ध क्षेत्र है जिसका निरपवाद अर्थ है जनता को अंधेरे में रखना। इसलिए यह मानना भ्रांतिपूर्ण है कि पूरे सदन में सुरक्षा नीति के आधारभूत तत्वों पर आम सहमति हासिल कर ली गयी है। पोखरन - II नाभिकीय विस्फोट पर चर्चा संसदीय आम राय की अनिश्चित प्रकृति को इंगित करता है हालांकि प्रत्येक दल सेना के लिए अधिक आवंटन की मांग करने में दूसरे दल को पछाड़ने की कोशिश कर रहे थे। जहां तक जनता के सुरक्षा सम्बन्धी बोध का प्रश्न है, इसे विकृत करके सम्माननीय जन आग्रह के नाम पर देश की सैनिक कुशलता को बढ़ाकर क्षेत्रीय नेतृत्व पर दावा किया जा रहा है। इस बात पर निरा बेवकूफ ही विश्वास करेगा कि इस सैनिक कुशलता का अपने देश की जनता पर उपयोग करने के लिए सरकार और आम जन में मतैक्य हो सकात है। यहां तक कि नीति-निर्धारकों के संकीर्ण दायरे में भी सामंजस्य नहीं होता है। तीनों सेनाध्यक्ष इंगित कर चुके हैं कि बगावतों का सैनिक समाधान कभी नहीं हो सकता। तो भी इस तथ्य के पर्याप्त प्रमाण मौजूद है कि भारत में सैनिक शक्ति का उपयोग मुख्यतः जनता के खिलाफ किया जा रहा है जिससे भारत को सर्वाधिक व्यस्त ''शांन्तिकालीन' सुरक्षा बल वाले देश का सम्मान प्राप्त हो गया है।

आइये कुछ समय के लिए आलोचनात्मक क्षमताओं का उपयोग स्थगित किया जाये ओर संकट तथा संकट से निपटने के लिए सैनिक आवश्यकताओं की समझ को स्वीकार कर लिया जाये। वरीयता के क्रम में मानवशक्ति का स्थान शीर्ष पर है। भारतीय संदर्भ में इसकी भूमिका इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि यह जनता को सरकार के मनमाने निर्णय को स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है। इससे शांतिपूर्ण स्थानों पर तैनाती की अवधि कम होती गयी है। अबाध यातायात के लिए मार्ग को सुगम बनाना, घेराबन्दी तलाशी अभियानों और मार्गरक्षण दलों मं भागीदारी जैसे असैनिक कामों में शिरकत की वजह से ऊंचा तनाव स्तर, अनुशासन उल्लंघन व्यापव व अनियंत्रित भ्रष्टाचार और सैनिकों द्वारा अपना आपा खो बैठने की घटनाओं में वृद्धि हो रही हैं सियाचिन में सैनिकों के पास गरम दस्ताने तक नहीं है। जवानों को 400 रुपया प्रतिमाह सियाचिन भत्ता मिलता है जबकि अधिकारियों को 7000 रुपया प्रतिमाह। यहां पर तैनात कर्मी 'तीन माह के कार्यकला के बाद 18000-21000 फीट की ऊंचाई से सफेद बाल निस्तेज शरीर और पिचके चेहरों के साथ नीचे आते हैं।' (गौरव सावंत इण्डियन एक्सप्रेस 1 अगस्त 2000)। पांचवें वेतन आयोग की सिफारिशें आने के बाद सुरक्षा सेवा कर्मियों के वेतन और भत्तों की समस्या का समाधान तीन साल में हो पाया था। इस अवधि में भारतीय वायु सेना के तकनीकी कर्मचारियों ने विद्रोह कर दिया तथा सरकार और सेनाओं के बीच सात माह तक खींच-तानचलती रही। समस्या तब उत्पन्न हुई जब नौकरशाहों ने वेतन आयोग के निर्णयों की मनमानी व्याख्या की। सुरक्षा बलों ने अपना प्रतिवेदन सीधे वेतन आयोग को दे दिया था जिससे नौकरशाही नाराज हो गयी थी। धन के कथित दुरुपयोग, वेतन के एरियर और अनुपूरक भत्तों की अदायगी न हो पाने के मुद्दे पर मणिपुर राइफल्स के 3000 से अधिक जवानों का दिसम्बर 2000 में विद्रोह और इसे इंडियन रिजर्व बटालियन की 11वीं बटालियन का समर्थन उस तथ्य की पुष्टि करता है कि सड़ांध बहुत गहरी है। सुरक्षा बलों के लिए 'समान पदनाम, समना पेंशन' का वादा पूरा नहीं किया गया है। पांचवें वेतन आयोग द्वारा संस्तुत विकलांग पेंशन की पुनरीक्षित दर को लागू नहीं किया गया है। अधिकारी वर्ग से नीचे के 74 प्रतिशत कर्मी अन्तिम वेतन का 50 प्रतिशत के बराबर सेवानिवृत्ति पेंशन नहीं पाते हैं। पूरी पेंशन पाने के लिए 33 साल की सेवा की शर्त होने के कारण पेंशन भूतपूर्व-सैनिकों विशेषतया सामान्य सैनिकों (सिपाही, नायक, हवलदार और नायब सूबेदार) की दुखती रग है। सुरक्षा बलों की छवि स्फूर्तिमय दिखाने के लिए उन्हें 15 से 20 साल की सेवा के बाद अनिवार्यतः सेवा निवृत्त कर दिया जाता है। इसलिए वे औपचारिक प्रतिबन्ध को पूरा नहीं कर पाते हैं। इसके परिणामस्वरूप उन्हें 1275 रुपया प्रतिमाह की पेंशन से सन्तोष करना पड़ता है जो बहुत कम है।

एक दूसरे मसले को लें। 1983-84 में सियाचीन पर अधिकार 1972 के शिमला समझौते का स्पष्ट उल्लंघन है। आइये इस मिथक को स्वीकार करें कि सियाचीन भारत की सम्पत्ति है और देखें कि इस सम्पत्ति का क्या हश्र हुआ है। सियाचीन में केवल एक ब्रिगेड का एक दिन का व्यय 4 करोड़ रुपया है। सियाचीन में तीन बिग्रेड और कारगिल में पूरी एक डिवीजन तैनात है। इस प्रकार इन अप्रीतिकर ऊंचे स्थानों पर नियंत्रण बनाये रखने के लिए कम से कम 6000 करोड़ रुपये सालाना व्यय करना पड़ता है। 17 दिसम्बर 2000 को पंजाब-हरियाणा-दिल्ली चैम्बर आफ कामर्स से विचार-विमर्श के दौरान लेफ्टीनेण्ट जनरल अर्जुर रे ने बताया कि 'फेंक दी गयी पैकिंग की सामग्री, खाद्य पदार्थो के डिब्बे, पैराशूट, गोला-बारूद के डिब्बे, मानव मल और बचे हुए भोजन की लगातार बढ़ती जा रही मात्रा के कारण सियाचीन क्षेत्र का पर्यावरण बिगड़ने की समस्या से जूझ रहा है। एक साल में प्रति व्यक्ति 1 टन अपशिष्ट सामग्री पैदा हो जाती है। तीन ब्रिगेड़ों में से लगभग दो ब्रिगेड यहां पर स्थित हैं और भारतीय सेना यहां पर 1983-84 से तैनात है। इस प्रकार यहां पर हजारों टन कचरा इकट्ठा हो गया है। भारतीय और पाकिस्तानी सेनाओं के भारी तोपखानों से होने वाली गोलाबारी के बारूदी जहर से पारिस्थतकीय संकट उत्पन्न हो रहा है। इन सबकी वजह से दोनों ध्रुवों के बाद सबसे बड़े हिमनद का क्षरण हो रहा है। ऐसा लगता है कि सियाचीन में भारत का प्रमुख योगदान इसके एक कचरा गोदाम में तब्दील कर देना है और इस कारण यह क्षेत्र भारी पारस्थतिकीय संकट का सामना कर रहा है। 100 किलोमीटर तक के वन आवरण की क्षति (जिसमें सुरक्षा बल पैठे हुए हैं), जलग्रहण क्षेत्र का असंरक्षण, सिंचाई नहरों और नालों से गाद न निकालने के कारण कश्मीरी जनता के खिलाफ 12 वर्षीय युद्ध ने जम्मू और कश्मीर में सूखा की स्थिति उत्पन्न कर दी है। ऐसा नहीं है कि इस सबकी जानकारी नहीं है। बात इतनी सी है कि 'राष्ट्रीय सुरक्षा' का सिद्धान्त संवेदनाओं को कुंद कर देता है। इसलिए खतरे की गम्भीरता आंखों से ओझल हो जाती है।

यदि बहस के लिए 'राष्ट्रीय सुरक्षा' के शासकीय तर्क को मान भी लिया जाये तो भी दुर्लभ संसाधनों के उपयोग का प्रश्न अपनी जगह बना रह जाता है। छोटे पर्दे पर 'तहलका' (रक्षा सौदों में भ्रष्टाचार का भंडाफोड़) की सफलता के बहुत पहले से कॉम्प्ट्रोलर एंड आडिटर जनरल (नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक) की रपट में पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध थे कि सुरक्षा बलों के लिए आवंटित संसाधनों को अनुचित तरीके से इस्तेमाल किया गया है कि यह अपव्यय विशेष क्षेत्री था और रक्षा मंत्रालय कुछ न करने और झूठे बहाने गढ़ने का दोषी था। अब अन्य स्रोतों से भी साक्ष्य प्राप्त हो रहे हैं। नार्दन इंडिया होजियरी एंड टेक्टटाइल मैन्युफैक्चर्स एसोशियेशन के अनुसार आयुध कारखानों से सामग्री खरीदे जाने के कारण सेना प्रतिवर्ष 1200 करोड़ रुपये का नुकसान उठा रही थी। ये आयुध कारखाने निजी आपूर्तिकर्ताओं के एजेण्ट का काम करते थे और 97 रुपये पति जोड़ा की दर से ऊनी मोजे खरीर रहे थे जबकि लुधियाना के निजी उत्पादक इससे अच्छी गुणवत्ता के मोजे 27 रुपये प्रति जोड़ा की दर से आपूर्ति करने की पेशकश कर रहे थे। इसी प्रकार वे सारे ऊनी मोजों के लिए 75 रुपये, ऊनी जर्सी के लिए 305 रुपया और बैरक कम्बल के लिए 180 रुपया भुगतान कर रहे थे। जबकि इनकी गुणवत्ता घटिया दर्जे की थी।

इसके अलावा सुरक्षा के लिए आवश्यक समझी जोन वाली योजनाओं के पूरे होने में विलम्ब का सवाल भी है। मैन बैटल टैंक, लाइट कॉम्बैट एयर-क्राफ्ट, एडवांस जेट एयरलाइनर आदि की योजनाओं को पूरा करने में एक दशक के विलम्ब ने इनके स्वदेशीकरण को खतरे में डाल दिया है। इससे योजनाओं की लागत में वृद्धि हो जाती है और आयात का मूल्य ऊंचा बना रहता है जो 1997-98 में 6728 करोड़ रुपया, 1998-99 में 6507 करोड़ रुपया और 1999-2000 में 7864 करोड़ रुपया था। इसमें सैनिक साज-सामान को उन स्रोतों से की गयी खरीद के मूल्य को भी शामिल करना चाहिए जो बिना किसी दंड के अनुबन्ध की शर्तो का उल्लंघन करते हैं। भारतीय नौसेना के 35 सी किंग हेलीकाफ्टर के बेड़े में लगभग 60 प्रतिशत की उड़ान इसलिए बन्द कर देनी पड़ी थी कि इसके ब्रिटिश उत्पादक जी के डब्ल्यू वेस्टलैंड को पोखरन - II के बाद क्लिंटन प्रशासन द्वारा लगाई गई रोक के तहत अमेरिका में उत्पादित फालतू पुर्जो की आपूर्ति करने से रोक दिया गा था। इससे भी बुरी हालत तब हुई जब ब्रिटेन ने मरम्मत के लिए भेजे गये 169 महत्त्वपूर्ण पुर्जो को वापस करने से इंकार कर दिया था जिससे 'सी किंग' का पूरा बेड़ा उड़ाने भरने के काबिल नहीं रह गया था। पोखरन - II के बाद 1998 में अमेरिका ने तोप की स्थिति बतलाने वाले राडार को बेचने से इंकार कर दिया। 1999 में सम्पर्क करने पर यूरोपीय संघ ने भी इसे भारत को बेचने से मना कर दिया। भारतीय सेना का मानना है कि कारगिल में कुल हताहतों में 80 प्रतिशत सैनिक पाकिस्तानी तोपखाने से दागे गये शार्पनेल के शिकार बने। प्रेसलर संशोधन से एक बार छूट देकर 1995-96 में अमेरिका ने पाकिस्तान को 'एंटप-37' एल आर (ANTPQ -37 LR) उपलब्ध करा दिया था। वर्तमान क्षेत्रीय सैनिक संतुलन को न बिगाड़ने के नाम पर अमेरिका ने इसराइल को इस बात के लिए राजी कर लिया था कि वह भारत को फाल्कन 'अवाक्स' (AW ACS) न बेचे।

125 मिग-21 में दो बार सुधार 2004 में ही पूरा हो सकेगा और वह भी 1700 करोड़ रुपये की बढ़ी हुई लागत पर। जहां तक ब्रिटिश हॉक से एडवांस जेट ट्रेनर सौदे का सवाल है, अमेरिकी पुर्जो के बदलने के सवाल पर वार्ता रुक गयी है। इसके अधिक दाम वसूल किये जाने और इसके जमीन पर उतरने वाले पुर्जो के पुराने पड़ जाने का संशय बना हुआ है। यह विदित है कि ज्यादातर सैनिक साज-सामान का नियत दाम नहीं होता है। इसलिए आकस्मिक खरीद दामों को बढ़ा देती है।

सारे तथ्यों के सामने आने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि भारी मात्रा में आवंटन वित्तीय दृष्टि से अविवेकपूर्ण है। चूंकि अप्रयुक्त धन 'लैप्स' हो जाता है इसलिए वित्तीय वर्ष के अंतिम माह में 30 प्रतिशत धनावंटन को व्यय करने का प्रचलन अवैध सौदों के अनुकूल होता है। 10वें वित्त आयोग ने आवर्ती रक्षा निधि के सृजन का सुझाव दिया था जिसमें अप्रयुक्त धन को जमा किया जा सके। संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग के इस प्रकार के सुझावों पर अमल नहीं किया जाता है। 'राष्ट्रीय सुरक्षा' के सिद्धान्त की खूबी यह है कि 'रणनीतिक व्यापार' के नाम पर लुट को उचित ठहराया जा सकता है। एनरान को इसलिए भारतीय उपभोक्ताओं से अधिक दाम वसूलने दिया गया कि वह अमेरिका प्रशासन को लड़ाकुओं के शिविर गिराने के लिए पाकिस्तान पर दबाव डालने के लिए मनायेगी। चूंकि 'राष्ट्रीय सुरक्षा' 'जानने के अधिकार' का निषिद्ध क्षेत्र है इसलिए 'सृजनात्मक' संकट का दृश्य रचकर सुरक्षा जरूरतों को गढ़ा जा सकता है। इसलिए मुख्य बात यह है कि नीति-निर्धारण प्रणाली के रहस्य को भेदा जाये जिससे गैर-सैन्यवादी विकल्पों को चिह्नित करने और उनके पक्ष में समर्थन हासिल किया जा सके। उदाहरण के लिए यह दलील देना गलत होगा कि सभी पाकिस्तानी भारत का विभाजन चाहते हैं हालांकि यह प्रचलित दृष्टिकोणों में से एक है, ठीक उसी तरह कि सभी भारतीय पाकिस्तान के विभाजन के लिए कृतसंकल्प हैं। यदि यह मान लिया जाये कि किसी मुकाम पर यह दृष्टिकोण हावी हो जायेगा तो इस चुनौती का सामना किस तरह किया जायेगा? प्रतिस्पर्धातम्क विदेशी-द्वेष बढ़ाकर या जनता पर अन्याय और अत्याचार करके दूसरों को शिकार के लिए उपयुक्त जमीन मुहैया करके तो बिल्कुल नहीं।

तालिका – 1

विभिन्न मदों के अंतर्गत व्यय (करोडों रुपयों में)

मद	मांग संख्या	धनराशि	मंत्रालय/ विभाग
रक्षा*	13219	72576	रक्षा
पुलिस**	43	6336	गृह
आणविक ऊर्जा विभाग***	87,288	1,390	आणविक ऊर्जा
अंतरिक्ष***	90	015	अंतरिक्ष

* इसमें नेशनल कैडेट कोर पर परिव्यय (यह परिव्यय सेना मद में आता है) और रक्षा मंत्रालय का असैनिक व्यय शामिल नहीं हैं।
** 9,818 करोड़ रुपये के कुल आवंटन में से सीमा सुरक्षा बल, केन्द्रीय सुरक्षित पुलिस बल, राष्ट्रीय गार्ड, भारत-तिब्बत सीमा पुलिस, असम राइफल्स, विशेष पुलिस, सुरक्षा सम्बन्धित व्यय और भारत आरक्षित बटालियन पर आवंटन को शामिल किया गया है।
*** बजट आंवटन का केवल पचास प्रतिशत लिया गया है।

दमन की राजनीति और युद्ध

चूंकि भारत सरकार का दावा है कि आंतरिक संघर्षो के वैदेशिक आयाम हैं, इसलिए 'आंतरिक सुरक्षा' का महत्त्व बढ़ गया है। राष्ट्रीय राइफल्स, जिसे जम्मू और कश्मीर के लड़ाकुओं के खिलाफ इस्तेमाल किया गया था, को हाल ही में सेना रेजीमेण्ट के रूप में केन्द्रीय मंत्रिमंडल की मान्यता इसका एक प्रतीक है। इस निर्णय में चीफ आफ डिफेन्स स्टाफ की नियुक्ति अंतर्निहित है जो रक्षा मंत्री के प्रति जवाबदेह होगा और जिसे 'उच्चतर रक्षा प्रबन्धन' का काम सौंपा जायेगा। नौकरशाहाना स्वेच्छाचारिता से निपटने का यह तरीका नहीं है। सेना के तीनों अंगों के बीच औपचारिक समन्वयन अविवेकपूर्ण कार्य है और मंत्रिमंडल की निर्णय लेने की प्रक्रिया में उन्हें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने की अनुमति प्रदान करना अलोकतांत्रिक है। सेना की हैसियत में यह बढ़ोत्तरी उस पर कार्यपालिका की निर्भरता का द्योतक है। 'केन्द्र के समर्थन बलों' का पचास प्रतिशत आन्तरिक युद्धों में लगा हुआ है, जिसकी कम से कम रु. 25,000 करोड़ प्रतिवर्ष की कीमत (देखें तालिका - 2) केन्द्रीय राजकोष चुका रहा है। यह राशि स्वास्थ्य, शिक्षा और महिलाओं एवं बच्चों के विकास के लिए कुल परिव्यय रु. 17,000 करोड़ का डेढ़ गुना है। सेना व्यय के इस खंड के बढ़ते जाने की आशा है। इस वर्ष से आरम्भ होकर अगले जांच वर्षो में राष्ट्रीय राइफल्स में तीस बटालियन या 25000 कर्मी बढ़ाये जायेंगे। इसके अलावा पिछले वित्तीय वर्ष से आरम्भ करके पांच वर्षों में 209 बटालियन (प्रत्येक में लगभग 800 व्यक्ति) अर्द्ध सैनिक बलों में बढ़ जायेंगे और उनमें से चारसीमा सुरक्षा बल, केन्द्रीय सुरक्षित पुलिस बल, इंडो-तिब्बत सीमा पुलिस और केन्द्रीय औद्योगिक सुरक्षा बलएकीकृत कमान के अधीन कर दिये गये हैं। अर्द्ध सैनिक बलों के अलावा राज्य सशस्त्र पुलिस बल भी होता है। 1995 में राज्य पुलिसकर्मियों की कुल संख्या 12 लाख थी जिसमें से 3.25 लाख या 27 प्रतिशत सशस्त्र पुलिस बल था। (यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि 2000-2001 में पुलिस के लिए राज्य बजट रु. 6000 करोड़ का 40 प्रतिशत सशस्त्र पुलिस पर व्यय हुआ। 2000-2001 में केन्द्र और राज्यों द्वारा मिलाकर पुलिस पर किया गया व्यय रु. 23,000 करोड़ था। इसका 40 प्रतिश 21 लाख असैनिक पुलिस पर जबकि शेष राशि 6.3 लाख अर्द्ध सैनिक बलों और 8.7 लाख सशस्त्र पुलिस बल पर व्यय की गयी।)

चूंकि आन्तरिक सुरक्षा से सम्बन्धित मामले गृह मंत्रालय के कार्यक्षेत्र में आते है। इससे आशा की जाती है कि यह आन्तरिक सुरक्षा की बोधगम्य आकलन और विश्लेषण मुहैया करायेगा। गृह मंत्रालय की 2000-2001 की वार्षिक रपट मामले को धुंधला बना दी है। जम्मू और कश्मीर पर अध्याय iv 'सुरक्षा परिदृश्य' से आरम्भ होता है और उत्तर-पूर्व पर अध्याय 'पिछले कुछ समय से मिलिटेंसी के कारण हुई क्षति पर सौम्य वक्तव्य से आरम्भ होता है परन्तु इन क्षेत्रों में मिलिटेंसी के प्रादुर्भाव का कारण नहीं बताया गया है न ही आंदोलनों की राजनीतिक मांगों का उल्लेख किया गया है। जम्मू और कश्मीर में 1999 से घटित 'आतंकवाद' की 11 घटनाएं न केवल नवम्बर 1999 में रुक जाती हैं बल्कि इनमें सुरक्षा बलों की आतंकवादी कार्रवाइयों को शामिल नहीं किया गया है। किसी वक्तव्य की सच्चाई के लिए आवश्यक है कि वह अर्द्धसत्यों का खंडन करे। लेकिन अर्द्ध सत्य और 'पाकिस्तान के अनष्टिकारी षडयंत्र' की टेक बल-प्रायेग को न्यायसंगत ठहराने का साधन बन गये हैं। यह आश्यर्चजनक है कि आन्दोलन के अहिंसक रूप की चर्चा नहीं की गयी है। विशेष रूप से तब जबकि मिलिटेंसी को 'विदेशी भाड़े के सैनिकों द्वारा संचालित' बताया गया है। यह खंडन प्रणाली बदतर होती जाती है। उत्तर-पूर्व पर लिखा अध्याय इस दावे के साथ आरम्भ होता है कि नागालैण्ड में मिलिटेंसी ''स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से मौजूद रही है'' और इससे थोड़ा आगे यह कहा गया है कि वर्तमान में ''भारत सरकार और एन एस सी एन (आई एम) में राजनीतिक वार्ता चल रही है।'' इनमें से कोई भी कथन सही नहीं है। नगालैण्ड में भारतीय सेना की फौजी कार्रवाई 1952 में आरम्भ हुई और इसके काफी समय के बाद सिर्फ 1954 में नागा आन्दोलन ने हथियार उठाया और राजनीतिक वार्ता अभी तक आरम्भ नहीं हुई है। नेपाल आई एस आई का अड्डा बन गया हैनेपाल के खिलाफ इस आरोप को गृह मंत्रालय की 1999-2000 की रपट में प्रस्तुत किया गया है जिसे शब्दश : 2000-2001 की रपट में दुहरा दिया गया है। इसमें कहा गया है कि '1990 के दशक से पाकिस्तान की खुफिया एजेन्सी नेपाल में सैन्य-तंत्र सुविधाएं स्थापित करने के लिए बहुत सक्रिय रही है...और भारत-नेपाल सीमा के पास धार्मिक कट्टरवादी संगठनों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई हैं इस दावे को कमजोर बनाया खुद गृह विभाग के राज्य मंत्री विद्यासागर राव के लिखित उत्तर ने जो पिछले साल 16 मई को लोकसभा में दिया गया था। इसमें कहा गया था कि भारत-नेपाल सीमा पर 'आतंकवादियों, अपराधियों और असामाजिक तत्वों की गतिविधियों में अत्यधिक वृद्धि' को इंगित करने वाली कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। नेपाल के प्रधानमंत्री ने भी इसका खंडन किया है। उन्होंने एशियन एज को दिये साक्षात्कार (जुलाई 31, 2000) में बताया कि 'सुरक्षा-सरोकारों का प्रश्न भारत ने कई बार उठाया। हमने उनसे पूछा इससे उनका क्या अभिप्राय है। आई एस आई का नाम लिया गया। हमने कहा सुस्पष्ट संकेत दीजिए। हम 'पत्थर रगड़कर अंधेरे में रोशनी नहीं पैदा कर सकते'। और वर्तमान समय में भारतीय मीडिया के आरोपों के प्रतिकूल, जिनके स्रोत गुमनाम अधिकारी हैं, काठामांडू में कथित ऋतिक रोशन-विरोधी दंगों के लिए गठित तीन सदस्यीय न्यायिक जांच समिति ने उनके पीछे आई एस आई षडयंत्र को खारिज कर दिया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि आई एस आई का हस्तक्षेप समाप्त हो गया है। फिर भी यदि इस चुनौती का गम्भीरता से सामना करना है तो इसके लिए यथार्थवादी मूल्यांकन आवश्यक है जिसमें भयोन्माद को उत्पन्न करने में सरकार का योगदान और न्याय के तकाजे को पूरा करने में उसकी असफलता की अभिस्वीकृति का समावेश होना चाहिए। (देखें, 'इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली दिसम्बर 18, 1999 पृष्ठ 3570)। आंतरिक संघर्ष के बारे में सुरक्षा चुनौती तथा युद्ध का खतरा इनसे किस तरह पैदा होता है, जनता की जानकारी को गृह मंत्रालय बढ़ा नहीं पाता। पिछले साल अप्रैल में शीर्ष खुफिया और पुलिस अधिकारियों को सम्बोधित करते हुए केन्द्रीय गृहमंत्री ने माना कि आई एस आई की गतिविधियों द्वारा उत्पन्न खतरा सबसे बड़ी चुनौती है। इसे उन्होंने 'युद्ध छेड़ना बताया और स्पष्ट किया : 'मैं जान बूझकर 'युद्ध' शब्द का इस्तेमाल करता हूं। यह बीस साल पुराना युद्ध है और इसने देश

की बाह्य और आन्तरिक सुरक्षा के बीच विभाजक रेखा को बहुत हद तक मिटा दिया है। यह एक ऐसा युद्ध है जिसका मोर्चा कश्मीर से कोयम्बटूर तक और मुम्बई से मणिपुर तक फैला हुआ है। यह एक ऐसा युद्ध है जिसमें भारत का प्रत्येक प्रान्त, सीमावर्ती राज्य बन गया है।

गौरतलब है कि यह परिदृश्य पुलिस और खुफिया अधिकारों के समक्ष प्रस्तुत किया गया था। युद्ध सरकार की विभिन्न शाखाओं का निजी मामला नहीं है बल्कि यह जनता के लिए महत्त्व का विषय है। विशेषतया इसलिए कि युद्ध संचालन के समय कम सवाल किये जा सकते हैं और अपने लोगों के खिलाफ तो और भी कम। केन्द्रीय गृहमंत्री द्वारा उल्लिखित दोनों शहरों में साम्प्रदायिक विद्वेष भड़काने, दंड न्याय प्रणाली तहस-नहस करने और प्रतिशोध की राजनीति का आधार तैयार करने में सरकार की चश्मपोशी भलीभांति प्रमाणित है। मुम्बई में मुस्लिम-विरोधी हत्याकांड पर न्यायमूर्ति श्रीकृष्ण आयोग और कोयम्बटूर दंगों पर न्यायमूर्ति गोपालकृष्ण आयोग की जांच रपट में इसका प्रमाण मौजूद है। जब अपराध अदंडित रह जाता है तो अन्याय बोध कई प्रकार के अनुचित प्रभुत्व के लिए खुल जाता है। इस सच्चाई को स्वीकार करने के बजाय इन क्षेत्रों को अशांत क्षेत्र घोषित करने का अर्थ होगा कि सरकारी सुरक्षा बलों और साम्प्रदायिक-फासीवादियों द्वारा किये गये अपराधों की लीपा-पोती की जा रही है और घटनाओं की कालिख को साफ किया जा रहा है। इसमें मुस्लिम संगठनों को अलगाव में डालना, उनमें संत्रास पैदा करना, दोषियों को दंडित करने और मुम्बई और कोयम्बटूर के मुसलमानों को न्याय दिलाने से इंकार करना अन्तर्निहित है।

18 अप्रैल को उत्तर प्रदेश पुलिस ने एक 'मुठभेड़' में जैश-ए-मोहम्मद के तीन लड़ाकुओं को मार गिराने का दावा किया। घिसी-पिटी कहानी से अलग इन तीनों को वास्तव में 17 अप्रैल को इलाहाबाद से उठा लिया गया, लखनऊ लाया गया ओर तब 'मुठभेड़' में मार दिया गया। कानपुर में पिछले मार्च को हुए मुस्लिम-विरोधी हत्याकांड को स्टूडेंट इस्लामिक मूवमेंट आफ इंडिया (सिमी) द्वारा कराया दंगा के रूप में प्रस्तुत किया गया। उत्तर प्रदेश पुलिस के महानिदेशक ने स्वीकार किया कि इसका उनके पास कोई प्रमाण नहीं है। लेकिन उनका आग्रह है कि 'सिमी' और आई एस आई के बीच सम्पर्क है लेकिन इसके समर्थन में साक्ष्य प्रस्तुत नहीं करते हैं। कानपुर में मुस्लिम-विरोधी हत्याकांड में बजरंग दल और प्राविन्शियल आई कान्ससटेबुलरी (पी.ए.सी.) की भूमिका के विषय में वह चुप रहे। इस भूमिका का भंडाफोड़ तथ्यान्वेषी-रपटों ने किया था। वह इस रिपोर्ट पर भी चुप्पी साध गये कि अतिरिक्त जिाल मजिस्ट्रेट (वित्त) सी.पी. पाठक की मौत9 एम.एम. गोली से हुई थी जो उ.प्र. पुलिस द्वारा इस्तेमला की जाती है। बिना सबूत के एक घटना को अनुचित महत्त्व देकर, और अन्याय के सबूत के बावजूद दूसरी घटना पर चुप्पी साधकर मुसलमानों के उत्पीड़न की अनदेखी की गई है।

1999-2000 की रपट की भांति गृह मंत्रालय की 2000-2001 की रपट भी नक्सलवादियों को एक 'आफत' के रूप में चित्रित करती है जिसमें गैरबराबरी के भूमि सम्बन्धों के लिए पाखंडी सरोकार तक नहीं दिखाया गया है। इसमें न तो रणवीर सेना या ग्रीन बिग्रेड जैसी भूस्वामियों की सेनाओं का जिक्र किया गया है और न ही भूमि और कृषि मजदूरी के लिए संघर्ष का हवाला दिया गया है। 92 पेज लम्बी रपट की मात्र 20 लाइनों में 'शांति और सुरक्षा की तीसरी सबसे बड़ी चुनौती' अर्थात 'वामपंथी उग्रवाद' को समेट लिया गया है। यह पूरा हिस्सा 'आफत का सामना' करने पर केन्द्रित है। इसमें वाहनों को अभेद्य बनाने, अर्थ स्वाचालित और स्वाचालित हथियारों की आपूर्ति का प्रबन्ध करके और 'केन्द्रीय अर्द्ध सैनिक बल। सेना तैनाती के लिए आवश्यक साज-सामान उपलब्ध कराने...और उग्रवाद-विरोधी फौजी कार्रवाइयों के लिए राज्य पुलिस को दिये गये विशेष प्रशिक्षण पर किये गये व्यय की क्षतिपूर्ति राज्यों को देने का ब्यौरा है। नक्सल-विरोधी कार्रवाइयों के समन्वय केन्द्र की आपातकालीन बैठक में केन्द्रीय गृह सचिव के कथन में विरोधियों को शैतान के रूप में चित्रित करने के लिए निराधार आरोपों का उपयोग किया गया है जिसमें उन्होंने कहा कि गृह मंत्रालय के पास 'सुनिश्चित संकेत हे' है कि आंध्र प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश में सक्रिय नक्सलवादी ग्रुपों को सभी प्रकार का समर्थन आई एस आई से मिला 'जान पड़ता है' (स्टेट्समैन 7 मार्च 2000) 'अधिक प्रीाावी कार्रवाई' इसी प्रकार के अनिश्चित आरोपों पर आधारित होती है। हत्या करने के पूर्णाधिकार की यह शिष्टोक्ति है। एक ऐसी ही कार्रवाई करने का आदेश उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री ने पुलिस को दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि मिर्जापुर जिले के भवानीपुर गांव में 16 दलित भूमिहीन मजदूर जिनमें दो बच्चे शामिल थे, की हत्या कर दी गई। 15 से 20 रुपया या 3 किलोग्राम गेहूं या 5 किलोग्राम धान प्रतिदिन की मजदूरी पर खेतों में एक साल में 100 दिनों से कम के मौसमी रोजगार से भूमिहीन कृषि मजदूर मुश्किल से जीवन-निर्वाह कर पाते हैं। उन्होंने जिस पर उनका कानूनी अधिकार है उसका इस्तेमाल करने देने, न्यूनतम मजदूरी ओर काम की मांग को लेकर उन्होंने नक्सलवादियों के नेतृत्व में संघर्ष किया। (देखें पीपुल्स यूनियन फार डेमोक्रेटिक राइट्स रिपोर्ट 'डेड हेन्स गिल्टी : इन काउण्टर ऐंड इट्स आफ्टरमाथ' : अप्रैल 2001) इसे दुहरा देना आवश्यक है कि नक्सलवादी बन जाना किसी व्यक्ति का अहरणीय अधिकार होता है लेकिन सरकार को इसकी छूट नहीं है कि किसी स्त्री/पुम्ष को इसलिए मार डाले कि वह नक्सलवादी बन गया था। सभी 16 दलित पास के गांवों से आये थे। पुलिस ने पहले दलित पुरवा को खाली करने का आदेश दिया, फिर उन्हें भवानीपुर के दलित परिवारों से अलग कर गोली मारकर हत्या कर दी गयी। डी आई जी (मिर्जापुर) ने पीपुल्स यूनियन फार डेमोक्रेटिक राइट्स। एसोशियेशन न फार प्रोटेक्शन आफ डेमोक्रेटिक्स राइट्स के सदस्यों को बताया कि 'उनका मर जाना या मार दिया जाना न्यायसंगत हैं। वे अपराधी हैं।' न्यायालय द्वारा दोषी घोषित किये जाने की बात छोड़ दीजिए। इन 16 दलितों पर कोई आरोप तक नहीं लगाया गया था। उनका 'अपराध' यह था कि उन्होंने दलित कृषि मजदूरों को संगठित करने की हिम्मत की थी ओर उनके अधिकारों के लिए लड़े थे। गृह मंत्रालय के रिपोर्ट की बेसिरपैर की 20 लाइनों में सामाजिक यथार्थ की समझ की झलक नहीं मिलती है। इसकी यह वजह है कि पूरे देश में पुलिस विभाग में ऐसी हत्याएं सबसे ज्यादा तेज रफ्तार से ऊंचे पदों तक पहुंचाती हैं। 2000-2001 की अवधि में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग को प्राप्त 71,685 शिकायतों में से 60 प्रतिशत के लिए उत्तरदायी होने का संदिग्ध सम्मान उत्तर प्रदेश को प्राप्त है। राष्ट्रीय मानवाधिकार

आयोग यह भी बताता है कि इसी अवधि में गैरकानूनी नजरबंदी के 1800 से अधिक मामलों में से 1400 मामले उत्तर प्रदेश पुलिस के खिलाफ हैं। पुलिस द्वारा गढ़ी गई कहानियों पर भरोसा करना बहुत खतरनाक है। मध्य प्रदेश के देवास जिले में मेंहदीखेड़ा गांव में 2 अप्रैल को 6 निहत्थे आदिवासियों की गोली मारकर हत्या कर देने की घटना से भारतीय पुलिस की हत्या करने की तत्परता साफ हो जाती है। जनसंघर्ष मोर्चा का तथ्यान्वेषण यह इंगित करता है कि आदिवासी मोर्चा संगठन के झंडे तेल आदिवासी संगठित हो गये थे और दूसरे व्यापारिक हितों के साथ मिलकर वन अधिकारियों द्वारा बड़े पैमाने पर पेड़ों की कटाई, वन सम्पदा की लूट, मद्य व्यापार, गैर कानूनी वसूली आदि का वे विरोध कर रहे थे। हत्याओं के कई सप्ताह पहले से गैर कानूनी गिरफ्तारियां, जिनमें महिलाएं भी शामिल थीं, आदिवासियों के घरों और खड़ी फसलों को नष्ट करने का काम आरम्भ हो गया था। यह खबर हवा में उड़ाई गयी कि 'बाहरी नक्सलवादी' आदिवासियों को भड़का रहे हैं और जनता के जीने के अधिकार के प्रति असम्मान और निहत्थे आंदोलन पर क्रूर बल का अक्सर इस्तेमाल जनता द्वारा आत्म-सुरक्षा में हथियार उठाने का विश्वसनीय मूल कारण है। यह मानी हुइ बात है कि यदि कोई आन्दोलन शस्त्र-सज्जित होता है तो यह उसकी जिम्मेदारी बनती है कि इसका उपयोग असैनिकों के खिलाफ न हो या जनता पर प्रहार करने और कष्ट देने के लिए न हो। लेकिन सशस्त्र समूहों के दुराग्रहों से किसी आन्दोलन की मांगें अवैधानिक और आपराधिक नहीं बन जाती हैं न ही यह मांग असंगत बन जाती है कि सरकार उनसे सशस्त्र भिडन्त के बजाय वार्ता करे। भयोन्माद उत्पन्न करने के लिए जातीय समूह। समुदाय के विरुद्ध रह-रहकर भय, घृणा और हिंसा भड़काने की तुलना में दमन और शोषण के खिलाफ संघर्ष करना जनता का अहरणीय अधिकार है। इसलिए यह अर्थपूण्र है कि न केवल शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध न्यायसंगत राजनीतिक गतिविधि को 'संगठित अपराध' समझा जा रहा है, जैसाकि राज्य अधिनियमों के शीर्षकों से स्पष्ट है, बल्कि साम्प्रदायिक-फासीवादियों और पुलिस की आपराधिक गतिविधियों को क्षमा करने के लिए सरकार किसी भी हद तक चली जा रही है। 2000-2001 की गृह मंत्रालय की रपट में साम्प्रदायिक सद्भाव पर कुछ नौ लाइनें लिखी गयी हैं जिसमें संघ परिवार और शिवसेना द्वारा अल्पसंख्यकों पर बढ़ते हमलों के बारे में चर्चा तक नहीं की गयी है। विभिन्न सरकारें 1984 के सिख-विरोधी हत्याकांड, 1980 के दशक की पूरी अवधि तथा बाबरी मस्जिद विध्वंस के बाद 1992 और 1993 में मुस्लिम-विरोधी हत्याकांड के अपराधियों को दंडित न करने की सचाई इस तथ्य की पुष्टि करती है कि विभिन्न सरकारें जनता के खिलाफ किये गये अपराध के दोषियों की रक्षा करती रही हैं। इसीलिए विरोधियों को राक्षस बनाया जा रहा है जिससे उनके द्वारा प्रस्तुत सुरक्षा जोखिम को बढ़ा-चढ़ाकर बताया जा सके और सुरक्षा बलों को बढ़ाने जाने के लिए संसाधनों को मुहैया कराना उचित ठहराया जा सके। गृह मंत्रालय के अधीन 'पुलिस' मद में किये गये 9800 करोड़ रुपयों के प्रावधान में से 8200 करोड़ रुपये अर्द्ध-सैनिक बलों की बढ़ोत्तरी के लिए हैं और 500 करोड़ राज्य पुलिस की टुकड़ियों को 'वाहनों, वायरलेस यंत्रों, कम्प्यूटरों और अन्य परिष्कृत उपकरण मुहैया कराने के लिए समय-समय पर होने वाली खरीदारी के लिए हैं। यह सब एक प्रांत के बाद दूसरे प्रांत में प्रकट रूप से 'संगठित अपराध' का सामना करने के नाम पर 'टाडा' जैसे कठोर कानून के माध्यम से उनको अधिकार देने के साथ-साथ होता है जो कि केन्द्रीय सहायता प्राप्त करने की एक शर्त जैसी है। इसे नहीं भूलना चाहिए कि जनतंत्र में नागरिकों को अधिकार प्राप्त होते हैं और पुलिस को कानून के शासन को जारी रखने का प्राधिकार और इसकी मर्यादा को बनाये रखने की जिम्मेदारी होती है। पुलिस को अभियोजन से मुक्ति सहित असाधारण अधिकार दिये जाने से, जनता नागरिक अधिकारों से वंचित रह जाती है। नैतिक समतुल्यता की हावी राजनीति शिकार और हमलावर, कार्य और कारण, न्याय और अन्याय के फर्क को धुंधला कर देती है और यह वार्ता में बाधा उत्पन्न कर देती है। तब आंदोलनों पर गन्दे आरोप लगाना और उन्हें सुरक्षा खतरों के रूप में प्रस्तुत करना आसान हो जाता है। इससे सशस्त्र पुलिस टुकड़ियों की अहमियत बढ़ाने और असैनिक पुलिस का महत्त्व कम हो जाता है। वास्तव में असैनिक पुलिस सेवा में सुधार करना उनके लिए उचित मुआवजा और प्रोन्नति पैकेज का प्राविधान करना गृह मंत्रालय के लिए पराया है और जन-आकांक्षाओं का दमन एक नियम बन गया है। ऐसे माहौल में जब उन क्षेत्रों में भी जिसे 'अशांत' न घोषित किया गया हो, सशस्त्र पुलिस को वरीयता दी जाती हो, सामान्य जन की हत्या के लिए पुरस्कार और प्रोन्नति दी जाती हो, तो उन क्षेत्रों में जनता के संत्रास का अनुमान लगाया जा सकता है जहां सरकार उन्हें केवल संदेह के आधार पर हत्या करने, तलाशी लेने, छापा मारने नष्ट करने का अधिकार दे देती है।

तालिका : 2
आन्तरिक युद्धों की अनुमानित लागत (करोड़ में)
(2001-02)

1. पांच कोरों (जम्मू और कश्मीर में 3 कोर और उत्तर पूर्व में 2 कोर) राष्ट्रीय राइफल्स सहित के वेतन और भत्ते	7000
2. केन्द्रीय अर्द्धसैनिक बलों के वेतन और भत्ते	5000
3. केन्द्रीय सरकार द्वारा किये जाने वाले सुरक्षा संबंधी व्यय	1000
4. शस्त्र और गोला-बारूद	2000
5. खाद्य और परिवहन	2000
6. राज्य और सशस्त्र पुलिस की लागत	6000
7. अन्य व्यय	2000
योग	रुपया 25,000 करोड़

नोट : मद संख्या 4 और 5 मेरी गणना के अनुसार हैं। वर्ष 2000-2001 में सारे राज्यों का कुल पुलिस बजट 15,000 करोड़ रुपये था। 10 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि मानकर गणना करने पर 2001-2002 में यह 16,500 करोड़ रुपया हो जाता है। मेरे मुताबिक इसका 40 प्रतिशत सशस्त्र पुलिस के लिए होता है। जहां तक मद संख्या 7 का प्रश्न है, पर्यावरणीय अपकर्ष, जिसमें जनजीवन, पशुधन और कृषि का क्षति शामिल है, की लागत 2000 करोड़ रुपये से कम नहीं होगी।

कश्मीरी लोगों के खिलाफ युद्ध

जम्मू और कश्मीर में युद्धविराम एक आवयक कदम तो है लेकिन शांति-प्रक्रिया को शुरू करने के लिए यह पर्याप्त नहीं है जो कि समग्रता में कश्मीर समस्या के जनतांत्रिक समाधान के लिए जरूरी है। किसी आन्दोलन पर ग्यारह वर्षों तक सतत सैनिक कहर के बाद आंशिक युद्धविराम की घोषणा मात्र से ही वात्म के लिए जमीन नहीं तैयार होगी। इस दृष्टि से युद्धविराम का मतलब आन्दोलन के खिलाफ हमले की तेजी को बस कम करना है। इसका यह मतलब भी नहीं है कि हमला खत्म हो गय है या इसे तेज नहीं किया जा सकता है क्योंकि जम्मू और कश्मीर में अभी भी 475,000 सैनिक मौजूद हैं और सेना में ''कटौती'' तथा अर्द्ध सैनिक बलों में वृद्धि की चर्चा हो रही है। फिर भी युद्धविराम की मुख्य उपलब्धि यह है कि सोलह सालों में पहली बार नियंत्रण रेखा के दोंनो ओर भारी तोपें खामोश हो गयी हैं। इस अर्थ में यह स्पष्ट है कितीन पक्षों में दो पक्षों अर्थात भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध विराम हो गया है।

इसके विपरीत सुरक्षा बल और लड़ाकू एक-दूसरे के खिलाफ सैनिक कार्रवाई कर रहे हैं सीमा सुरक्षा बल के महानिदेशक जो केन्दीय गृह मंत्रालय के अधीन होते हैं ने हाल ही के एक साक्षात्कार में दावा किया कि 'प्रधानमंत्री द्वारा युद्धविराम शब्द का इस्तेमाल नहीं किया गया। यह जंगी कार्रवाइयों का स्थगन मात्र है... इसलिए हमलोग पूरी तौर पर निष्क्रिय नहीं हुए हैं। पुलिस के महानिदेशक जो बाद में अपने बयान से मुकर गये, ने पर्याप्त रूप से स्पष्ट कर दिया था कि पुलिस युद्धविराम की परिधि में नहीं आती है और 'लड़ाकुओं के खिलाफ अपराधियों की भांति, कार्रवाइयां जारी रहेगी। मुख्य मंत्री ने शेष संभ्रम को खत्म कर दिया जब उन्होंने पुलिस बल से कहा कि लड़ाकुओं को गिरफ्तार करने की झंझट में न पड़कर उन्हें खत्म कर दिया जाये। आज की परिस्थितियों में जम्मू और कश्मीर के मुख्यमंत्री का स्वतंत्र रूप से या केन्द्र की इच्छा के विपरीत काम करना असम्भव है। दांवपेंच आजमाने की गुंजाइश तभी सम्भव है जब सारे सुरक्षा तंत्र के नियंत्रण का बंटवारा करने वाले प्रधानमंत्री कार्यालय, गृह और रक्षा मंत्रालयों के बीच मतभेद हो। इस प्रकार स्पष्टतया केन्द्रीय सरकार के आंतरिक घटकों द्वारा जानबूझकर अवज्ञा की जा रही है जिससे शान्ति प्रक्रिया के पटरी से उतर जाने का खतरा उत्पन्न हो गया है।

उत्पीड़क अपराजेय नहीं होते हैं और सर्वाधिक शक्तिशाली सेना भी दहशत पैदा कर सकती है, राज्यक्षेत्र को नियंत्रित कर सकती है लेकिन वह जनता के दिल और दिमाग को नहीं जीत सकती है। चकरा देने वाली मृतकों की संख्या, हजारों लोगों को कैद, यातना, डराना-धमकाना, उत्पीड़न, बलात्कार का अस्त्र की भांति उपयोग, ने केवल अलग हो जाने के जनता के संकल्प को मजबूत किा है। अक्टूबर के आरम्भ में जम्मू और कश्मीर के पहले दौरे पर गये थल सेना के नये अध्यक्ष जनरल एस. पदनाभन ने दावा किया कि कश्मीर समस्या का सैनिक समाधान नहीं है और इस बात पर बल दिया कि 'मानवजाति के इतिहास में किसी भी विद्रोह का समाधान सैनिक कार्रवाइयों से नहीं हुआ हैं।' दूसरे शब्दों में स्थिति बहुत तेजी से बिगड़ी है। सरकारी आंकड़ो के अनुसार अब तक मारे गये कुछ 1750 सुरक्षा कर्मियों में से 893 सुरक्षाकर्मी पिछले तीन सालों में मर गये : 15 अक्टूबर 2000 तक 305, 1999 में 356 और 1998 में 232। 1994-95 से 2000-2001 के बीच जम्मू और कश्मीर में लगायी गयी सेना की बटालियनों की संख्या में तीन गुना की वृद्धि हो गयी और यह 40 से बढ़कर 117 हो गयी। प्रति चौदह व्यक्तियों पर एक जवान के अनुपात वाली इस भारी सैन्य उपस्थिति, बार-बार की घेराबन्दी और तलाशी, कश्मीरियों के लिए अनिवार्य परिचय-पत्र, 'आर्म्ड फोर्सेस स्पेशल पावर्स एक्ट के तहत असाधारण अधिकार के बावजूद बादामीबाग, श्रीनगर में पंद्रहवीं कोर की सुरक्षा व्यवस्था पांच लड़ाकुओं ने तोड़ दी थी। पन्द्रहवी कोर का कमांडर पदेन राज्य सरकार का सुरक्षा सलाहकार होता है और एकीकृत कमान का मुखिया होता है जो विद्रोह-विरोधी गतिविधियों को संचालित करती है। तब से यह हमला अन्य हमलों का पूर्वगामी बन गया है और यह बात भारतीय सैन्य नियंत्रण को हल्का साबित कर देती है। दूसरा विवेचन योग्य यह परिवर्तन यह है कि लड़ाकू संख्यचा बल में कम है लेकिन उनका प्रशिक्षण और अनुभव बेहतर है। वीरवाह में राष्ट्रीय राइफल्स के शिविर से दो लड़ाकुओं को बाहर निकालने के लिए सेना को एक हेलीकाप्टर इस्तेमाल करना पड़ा। सुरक्षा बलों ने सबसे लम्बी सैन्य कार्रवाई बाटपोरा जिला बदगाम मं की जो पांच दिनों तक चली। सुरक्षा बलों ने पूरे गांव को मलबे में बदल डाला। अब इसकी गिनती चरार-ए-शरीफ, सोपोर, पाटनी, अहगाम, हंडवारा, संग्रामा, अनंतनाग और नूर बाजार में होती है जिन्हें हाल के सालों में क्षतिग्रस्त कर दिया गया है।

बारह साल से चल रही सैन्य कार्रवाइयों ने सुरक्षा बलों को सुभेद्य बना दिया है और दहशत और थकावट के चिह्न नजर आ रहे हैं। सुरक्षा बल फेदाइन हमलों को रोकने के लिए कुछ नहीं कर पा रहे हैं। जम्मू और कश्मीर में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल के महानिरीक्षक ने हाल के साक्षात्कार में बताया कि 'मुझे स्पष्टवादी होना चाहिए। आत्मघाती हमले का वाकई कोई जवाब नहीं है...वे मरने के लिए तैयार होकर आते हैं तो उन्हें किस तरीके से रोका जा सका है?' ... उन्होंने आगे और भी बताया कि 'जवानों को कब तक सतर्क रहने के लिय कहा जा सकता है?... अजात शत्रु का इंतजार करना जो कभी भी, किसी भी वेश में आ सकता हो, कोई भी चाल चल सकता हो, बहुत मुश्किल काम है।' कम से कम सेना के एक हिस्से को यह बात मालूम हो गयी है कि चाहे युद्धविराम हो या न हो फेदाइन हमले जारी रहेंगे और इसका सैनिक समाधान नहीं है। पिछले ग्यारह सालों में लड़ाकुओं की घटती संख्या और तैनात सैनिकों की संख्या में वृद्धि इसका प्रमाण है। सैनिकों द्वारा अपने साथियों और अधिकारियों की तनाव में की हत्यायें खुद अपनी कहानी कह रही हैं। जनवरी में ही इस तरह की दो घटनायें हुईं। पहली घटना केन्द्रयी रिजर्व पुलिस बल में और दूसरी सीमा सुरक्षा बल में घटी, जिसमें पांच सुरक्षा कर्मी सांघातिक झगड़े में मारे गये। बीरवाह में 34 राष्ट्रीय राइफल्स और केन्द्रीय रिजर्व बल की 122 बटालियन के क्रुद्ध जवानों ने एक पुलिस थाना पर हमला कर दिया और पुलिस कर्मियों की शिनाख्त परेड करवाई। पहलगाम में मृत 32 असैनिकों में से 22 असैनिक तब मारे गये जब दो लड़ाकुओं के हमले से आतंकित होकर केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल कर्मियों ने गोली चला दी। पथरीबल में पांच स्थानीय लोगों की नृशंस हत्या राजनीतिक आकाओं को खुश करने के लिए की गयी जो नतीजों की मांग कर रहे थे। और

बराकपोश में जनता के जीवन का तिरस्कार करने वाले सुरक्षा बल ने शान्तिपूर्ण प्रदर्शन पर गोली चला दी जिसमें आठ मारे गये और दर्जनों घायल हो गये। आल पार्टी हुर्रियत कांफ्रेंस का दावा है कि 250 असैनिक, 24 सुरक्षा बलों की संरक्षा में मारे गये, 30 घर उड़ा दिये गये ओर 10 महिलाओं को बेइज्जत किया गया।

युद्धविराम के राजनीतिक उद्देश्यों के बारे में अनिश्चितता बनी हुई है। आल पार्टी हुर्रियत कांफ्रेंस को पाकिस्तान यात्रा के लिए पासपोर्ट या यात्रा दस्तावेज जारी करने पर हुआ विवाद इसका प्रमाण है। यदि आल पार्टी हुर्रियत कांफ्रेंस कश्मीरियों की आकांक्षाओं की नुमाइंदगी नहीं रकती थी, तो यह सारा विवाद ही निरर्थक थ। इससे उस पार यह संदेश गया कि भारत सरकार अपनी तरजीह और एजेण्डा को थोपने के लिए कृतसंकल्प है। युद्धविराम की पेशकश में जो भी चमक-दमक थी, वह इसने छीन ली है और भारत सरकार को मिला वह लाभ, जो वास्तव में मायने रखता है, अर्थात कश्मीरियों की सहयोग, व्यर्थ हो गया है।

यह सही है कि युद्धविराम से 'जेहादी बलों के हमलों से सुस्पष्ट राहत मिल गयी है जिसके पाकिस्तानी शासन में ताकतवर समर्थक और संरक्षक मौजूद हैं और जो इन्हें अपने बीते जमाने का एजेण्डा आगे बढ़ाने के लिए इस्तेमाल कर रहे हैं। इसके कारण पाकिस्तानी सैनिक शासन की युद्धविराम पर प्रतिक्रियाजवाबी गोलाबारी और घुसपैठ में कमी जबकि लड़ाकुओं को सैनिक कार्रवाई करने देनाआधी-अधूरी लगती है। यहां पर एक चेतावनी देना आवश्यक है। लड़ाकुओं के दो ग्रुप हैं। हिजबुल मुजाहिद्दीन जैसे देशज संगठन और विदेशी लड़ाकुओं का ग्रुप जिनसे 'जेहादियों' का बहुलांश आता है। इन सभी ने सशस्त्र कार्रवाइयों को खत्म करने से इंकार कर दिया है। फिर भी, हिजबुल मुजाहिदीन ने युद्ध समाप्ति को भारत सरकार द्वारा बिलाशर्त त्रिपक्षीय वार्ता आयोजित करने के वादे के साथ जोड़ दिया है। दूसरी ओर 'जेहादी' हथियार के बल पर सर्वसत्तावादी महजबी राज्य को लादने के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कृतसंकल्प हैं। इन अर्थों में 'जेहादी' कश्मीरी आन्दोलन के स्वतंत्र सेनानी नहीं हैं बल्कि सर्वसत्तावादी विचारधारा के ध्वजवाहक हैं।

सारे तथ्यों के सामने आने के बाद इसे दुहराना आवश्यक है कि उग्र संघर्ष की शुरुआत भारत अधिकृत कश्मीर में हुई। यह उस प्रक्रिया का फल था जो जनता के हथियार उठा लने के बहुत पहले आरम्भ हो चुकी थी। और वह भी तब जबकि 'राष्ट्रीय हित या सुरक्षा' के नाम पर जनतांत्रिक अभिव्यक्ति के सारे रास्ते बंद हो गये थे, विरोध कुचल दिया गया था, और मांगें अस्वीकृत कर दी गयी थीं। इसलिए इसकी भारी जवाबदेही भारत सरकार पर है। सरकारों की स्वाभाविक प्रवृत्ति मुद्दों को नकारने, धुंधला कर देने की और लुक-छिपकर काम करने की होती है। भारत सरकार इसका अपवाद नहीं है। आंदोलन को रोकने, लम्बा घसीटने, थका देने, विभाजित करने के लिए यह अपने बूते की सारी तिकड़में जारी रख रही है। यह नहीं भूलना चाहिए कि सैन्यवादी नीति में अत्याचार अन्तर्निहित होता है क्योंकि इस नीति में 'आर्म्ड फोर्सेस स्पेशल पावर्स एक्ट' और 'पब्लिक सेफ्टी एक्ट' के अन्तर्गत सुरक्षा बलों को असाधारण अधिकारों के साथ-साथ दायित्वशून्यता से लैस कर दिया गया है। पिछले साल अगस्त में संसदीय मामलों के केन्द्रीय मंत्री प्रमोद महाजन ने कहा था कि सरकार न्यायेत्तर हत्याओं और अंधाधुंध गोलाबारी करने वाले सुरक्षाकर्मियों के खिलाफ कोई कार्रवाई इसलिए नहीं करेगी कि इससे फौज हतोत्साहित हो जायेगी। केन्द्रयी गृह मंत्री लाल कृष्ण आडवाणी ने इस पर देशभक्ति का आवरण डाल दिया जब उन्होंने लोकसभा को बताया कि पहलगाम गोलीकाण्ड की न्यायिक जांच से पाकिस्तान का फायदा होगा क्योंकि इसका अर्थ होगा कि 'हम भी अपने सुरक्षा बलों पर संदेह करते हैं।' इनमें से किसी ने भी इस सम्भावना पर विचार नहीं किया कि हत्यारों को छुट्टा छोड़ जायेगी या कि जांच न करवाने का मतलब होगा कि असैनिक जनता का कोई महत्त्व नहीं है।

यह मानी हुई बात है कि शांति प्रक्रिया लम्बी और खतरों से भरी हुई होगी। लेकिन कदम-ब-कदम आगे बढ़ने के लिए भी समस्या की स्पष्ट समझ और वार्ता से इसे सुलझाने की वास्तविक आकांक्षा आवश्यक है। जम्मू और कश्मीर में सुशासन और विकास से असंतोष को ठीक नहीं किया जा सकता है बल्कि जनता के अलगाव को दूर करके किया जा सकता है जो कि केन्द्रीय मुद्दा है। अलगाव की प्रक्रिया 'परजीवी पूंजीवाद' के राजनीतिक अर्थशास्त्र में स्थित भी जिसमें राज्य पर अत्यधिक निर्भरता प्रगति की सीमित सम्भावना, निवेश का अभाव और बेरोजगारी, अनियंत्रित भ्रष्टाचार से बढ़ती निराशा भी.... पिछले ग्यारह वर्षों की अनवरत हिंसा के दौरान इन सबमें प्रलयंकारी परिवर्तन हुआ और भारत से अलग हो जाने का नारा एकजुटता का प्रतीक बन गया। यह अविध भारत के अधुनातन इतिहास की उस अवधि की समकालिक है जब साम्प्रदायिक-फासीवाद की जड़ें मजबूत हो रही थीं। बाबरी मस्जिद के लिए बलवाई अभियान, इसका विध्वंश और मुस्लिम-विरोधी सामूहिक हत्याकांड के बाद अपराधियों को सजा न मिलने से भारतीय जनतंत्र के प्रति निष्ठा को क्षति पहुंची है।

सरकारी फौज के खिलाफ गुस्सा बहुत व्यापक है। भारत सरकार द्वारा प्रकाशित मृतकों के आंकड़ों पर राज्य सरकार भी विश्वास नहीं करती है। यद्यपि केन्द्रीय गृह मंत्रालय दावा करता है कि 'आंतरिक युद्ध' के ग्यारह वर्षों में 20,000 से अधिक मौतें हुईं, तथापि राज्य सरकार मृतकों की संख्या 70,000 बताती है। मृतकों की अधिक संख्या और इसके लिए सरकारी फौजों के रोष की स्वतंत्र परिपुष्टि भी उपलब्ध है। 'सेव द चिल्रेन फंड' के लिए कश्मीर विश्वविद्यालय के बशीर अहमद डलबा द्वारा तैयार किये गये अध्ययन में प्रमाणित किया गया हे कि कश्मीर में 1999 तक 60,000 मौतें हुईं और वहां पर 20,000 अनाथ बच्चे और 16,000 विधवायें थीं। आजकल सभी सरकारों की प्रवृत्ति फौजों द्वारा मार दिये गये असैनिकों की संख्या को कम बताने और लड़ाकुओं पर दोष मढ़ने को होती है। इसी अध्ययन में बताया गया है कि 80 प्रतिशत मौतें सुरक्षा बलों की गोलीबारी के कारण, उनकी संरक्षा में, या गद्दारों द्वारा हुई थीं। सरकारी मानसिक अस्पताल श्रीनगर के अभिलेखों से सिद्ध होता है कि 70 में से 60 मामलों में मरीज सुरक्षा बलों द्वारा ढाये गये अत्याचार का शिकार था या अपने किसी घनिष्ठ व्यक्ति पर इस अत्याचार का प्रत्यक्षदर्शी था। ग्यारह वर्षों में किसी भी हालत में किसी परिवार को नहीं छोड़ा गया और प्रत्येक परिवार के पास कहने के लिए कहानी है। एक पूरी पीढ़ी जवान हो रही है जो यह नहीं जानती कि 'सामान्य स्थिति' क्या होती है और मानसिक

आघात के बाद तनाव-जन्य विकृति से पीड़ित है। कभी-कभी जनता के विरोध के कारण सरकार जांच के आदेश देती है लेकिन इसका कोई नतीजा नहीं निकलता है।

जम्मू और कश्मीर में बंदी प्रत्यक्षीकरण-याचिका काम नहीं करती है। सुरक्षा बलों द्वारा न्यायिक आदेशों की अवज्ञा की जाती है पर इसकी कोई सजा नहीं मिलती। जम्मू और कश्मीर उच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश सैयद रिजवी ने कहा है कि उन्होंने बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिकाओं पर सुरक्षा बलों और राज्य प्रशासन को 2000 आदेश जारी किये हैं जिस पर कोई कार्रवाई नहीं हुई। यह एक गैरजिम्मेदार फौज है जो 'आर्म्ड फोर्सेस स्पेशल पावर एक्ट' द्वारा प्रदत्त बचाव के अधीन काम करती हैं इस बीच सरकार की जनकल्याण गतिविधियों में वस्तुतः ठहराव आ गया है। विधवाओं, अनाथों और वृद्धों में वे भाग्यशाली लोग जो पंजीकृत हैं और प्रकट रूप से सहायता प्राप्त करते हैं, विभिन्न बिचौलियों की कटौती के बाद इस धनराशि का मात्र एक हिस्सा पाते हैं। स्वास्थ्य सेवायें और शिक्षा अव्यवस्थित हो गयी है। बड़े हिस्से में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र डाक्टरों, दाइयों और दवाओं से पूर्णतया वंचित है और ठप्प पड़े हैं। सुरक्षा बलों के यौन उत्पीड़न के कारण ग्रामीण क्षेत्र में महिला चिकित्सा कार्यकर्ताओं की गम्भीर कमी है। यहां तक कि प्रसव के लिए लोगों को श्रीनगर की यात्रा करनी पड़ती है। 'वित्तीय अभाव' के कारण अध्यापकों की कमी, स्कूलों की बंदी से शिक्षा देने का काम अधिकांशतः रुक गया है। इस बीच सामान्य-जनजीवन में अव्यवस्क से श्रीनगर और अन्य शहरों की आबादी बढ़ गयी है जहां पर अवसरों के अभाव का एकछत्र शासन है। यह स्थिति नौजवान लोगों के लिए बदतर है। यदि वे शिक्षा पूरी करने के लिए ठहर जाते हैं तो उन्हें न केवल सशस्त्र बलों से संघर्ष करना पड़ता है क्योंकि उसे नौजवान लोगों पर विशेष रूप से संदेह होता है बल्कि 'सामान्य तरीके से' काम कर रही उन थोड़ी सी शैक्षिक संस्थाओं से स्नातक की डिग्री लेने में पांच साल तक लग जाते हैं। यदि वे इसके भारतीय शहरों तक पहुंच जाते हैं तो उनके लिए प्रवेश मिल पाना बहुत कठिन होता है क्योंकि कश्मीरी मुसलममान को संदेह की दृष्टि से देखा जाता है और उनको आवास मिलना कठिन होता है क्योंकि गृह मंत्रालय पुलिस से उनकी गतिविधियों की पर निगरानी की उम्मीद करता है और पुलिस अपनी सामान्य कामकाजू शैली में मकानमालिक को अपना भवन उन्हें किराये पर उठाने के लिए धमका देती है। कश्मीरियों के भोगे गये यथार्थ को यह चीज विकृत कर देती है कि भारत में ऐसे नागरिक समूहों और राजनीतिक दलों का अभाव है जो उनके आंदोलन की हिमायत करें और उनसे हमदर्दी जतायें। यह इस धारणा को पुख्ता करती है कि भारत उनका दुश्मन नहीं है लेकिन वह कश्मीरियों का दोस्त भी नहीं है।

केवल उस पर विचार किया जाये कि क्यों गद्दारों को, जिनसे कश्मीरी सबसे ज्यादा नफरत करते हैं, भारतीय फिल्मों कथासाहित्य, जीवनी साहित्य व व्यावसायिक रंगबिरंगी पत्रिकाओं में महिमामंडित किया जाता है। इसके विपरीत जिन लोगों ने अहिंसक संघर्ष का मार्ग चुना उनका उपहास किया गया, निंदा की गयी और दमन किया गया। लोकप्रिय नेता शब्बीर शाह को आत्मनिर्णय के अधिकार की मांग करने के लिए अपनी जिंदगी के 23 वर्ष जेल में बिताना पड़ा। जम्मू एंड कश्मीर लिबरेशन फ्रंट जिसने 1994 में एकतरफा युद्धविराम की घोषणा की थी, की न केवल उपेक्षा की गई बल्कि हथियार डाल देने के बाद से इसके 600 सदस्यों को सुरक्षा बलों ने मार डाला। साहसी, लड़ाकुओं के नेता आजम इंकलाबी का अनुभव इससे भिन्न नहीं था। सुरक्षा बलों द्वारा उनके साथियों के अपमान और उत्पीड़न के खिलाफ कोई आवाज नहीं उठी। आन्दोलन पर सैनिक विजय के प्रतीक के रूप में यह सब प्रस्तुत किया गया। अब जबकि भारत सरकार का नजरिया बदल गया है और यह अवधारणायें प्रस्तुत की जा रही हैं कि आंदोलन ने मुक्तिवादी बंधन से छुटकारा पा लिया है या कि 'जेहादी इस्लाम ने सूफी इस्लाम को बेदखल कर दिया है, इन मुद्दों को उछालना अभद्रता समझी जाती है। भारत के पक्ष में कश्मीर की हिफाजत के काम में जनता के उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष करने और आजादी तथा मानवीय गरिमा क साथ जीने के अधिकार से वंचित करना अपरिहार्य है। उसकी पूर्वधारणा यह है कि होने वाली घटनाओं में जनता की कोई भूमिका नहीं होती है, कोई नियंत्रण नहीं होता है, कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

आजादी उन लोगों के लिए संवेदनशील मुद्दा है जो जुल्म के साये में जीते हैं, जिनका अस्तित्व उनके परिचयपत्र से निर्धारित होता हो, जब जी चाहे निजता का अतिक्रमण किया जाता हो, बाजार में जिनकी तलाश हो और तलाशी ली जाती हो, यात्रा करते समय रोक दिया जाता हो, प्रतिवाद के अधिकार से वंचित रखा जाता हो, और विरोध की अभिव्यक्ति को सेंसर कर दिया जाता हो। ऐसे लोगों के लिए आजीद उनके भौतिक और सांस्कृतिक जीवन का आन्तरिक घटक और अपनी इंसानियत को बहाल करने का एकमात्र रास्ता है। हिजबुल मुजाहिदीन इस सार्वजनिक मनःस्थिति का सर्वोत्तम उदाहरण मुहैया कराती है। यह सबसे बड़ा लड़ाकू ग्रुप है जो पूरी तरह देशज है इसलिए जनता के विचारों की उपेक्षा करने में समर्थ नहीं है। जनता के अनुमोदन के बिना लड़ाकू गतिविधियां जारी नहीं रखी जा सकती है। यही वह तथ्य है जिसने उन्हें अपनी अवस्थिति को 'जेहादवादियों' से अलग करने के लिए मजबूर कर दिया जो हिजबुल मुजाहिदीन के तीन माह लम्बे एकतरफा युद्धविराम प्रस्ताव में प्रतिबिम्बित होता है और उन्होंने यूनाइटेड जेहाद काउन्सिल और पाकिस्तान के जमात-ए-इस्लाम द्वारा की गई आलोचना को 'बाहरी हस्तक्षेप' कहकर रद्द कर दिया। हिजबुल मुजाहिदीन ऐसा कर सका क्योंकि जम्मू और कश्मीर में वह एक देशज और सबसे बड़ा ग्रुप है जो इस सार्वजनिक उद्विग्नता के प्रति उदासीन नहीं रह सकता कि विदेशी लड़ाकू अपनी सत्तावादी योजनाओं के चलते स्वतंत्रता आन्दोलन को बदनाम कर रहे हैं। यही बात उनके द्वारा रखी गई तीन शर्तों में भी प्रतिबिम्बित होती है : 1. मानवाधिकारों के उल्लंघन को समाप्त करना 2. विभिन्न राजनीतिक धारणाओं से सम्बद्ध व्यक्तियों को स्वतंत्र अभिव्यक्ति की अनुमति देना और सरकार तथा लड़ाकुओं को जनता के निर्णय के प्राधिकार से इंकार करना। यहां तक कि जमात-ए-इस्लामी के *अमीर* गुलाम मुहम्मद बट ने बलपूर्वक कहा कि कश्मीरी लोग ''राजनीतिक संघर्ष'' में उलझे हुए हैं। उतना ही महत्त्वपूर्ण यह तथ्य है कि आंदोलन ने अमरनाथ तीर्थयात्रा को भंग करने के किसी कदम को अपने को लगातार दूर रखा है और उनके स्वयंसेवकों ने तीर्थयात्रियों को चिकित्सा सुविधाएं मुहैया कराई हैं जिससे यह संकेत मिलता है कि स्वतंत्रता के उनके बोध में विविधता के पति

सम्मान शामिल है। निश्चित रूप से यह 'जेहादवादियों' की भाषा और व्यवहार नहीं है जिनकी सत्तावादी दृष्टि विरोध की जनतांत्रिक अभिव्यक्ति को अभिशाप मानती है। और कुछ न सही यह फटाफट नतीजे निकालने के बजाय सावधानी बरतने की मांग करती है।

आइये प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर विचार किया जोय। भारत सरकार उन सभी लोगों का प्रतिनिधित्व करती है जो जम्मू और कश्मीर को 'भातर का अभिन्न अंग' मानते हैं, ठीक उीस तरह जिस तरह पाकिस्तान सरकार उनका प्रतिनिधित्व करती है जो यह विश्वास करते हैं कि जम्मू और कश्मीर पाकिस्तान का है। स्वतंत्रता के लिए आंदोलन के निर्णायक प्रादुर्भाव ने उसे वैध तीसरे पक्ष के रूप में समझौता वार्ता में स्थान दिया है। यदि भारत सरकार सभी से बात करना चाहती है, तो उसे हर सम्भव तरीके से ऐसा करने की कोशिश करनी चाहिए ताकि सभी पक्ष एक साथ काम कर सकें। कोई विचार इसलिए खत्म नहीं हो जाता कि सरकार ने उस पर पाबन्दी लगा रखी है। कोई आन्दोलन इसलिए अ-आंदोलन नहीं बन जाता क्योंकि भारत सरकार और मुखर भारतीय इस विचार से सहम जाते हैं। इस दृटि से, सम्भव समाधान की खोज का तभी कोई अर्थ होगा जब वास्तविक मुद्दों का सामना करने और गढ़े गये मुद्दों, एजेन्ड से दूर रहने को सच्ची अभिलाषा हो। यदि कोई आंदोलन न होता तो हथियार भी नहीं उठते। यदि आंदोलन न होता तो वार्ता की कोई जरूरत ही नहीं थी। युद्धविराम से जुड़ी एक अकथित आशा यह है कि इससे शांति क्षेत्र उत्पन्न हो जायेगा जिसका अर्थ यह है कि जनता शांति की इतनी आदी हो जायेगी कि वह लड़ाकुओं के खिलाफ हो जायेगी और सरकार को प्राधिकार बहाल करने में मदद करेगी। यह तथ्य कि एक भी कश्मीरी ने सुरक्षा बलों के खिलाफ राज्य महिला आयोग के समक्ष शिकायत नहीं की है, से सरकारी तंत्र में विश्वास के अभाव को इंगित करता है। निश्चित रूप से लड़ाकुओं का डर भारतीय सुरक्षा बलों के खिलाफ शिकायत दर्ज करने में आड़े नहीं आया होगा। विशेषतया तब जबकि न्यायेत्तर मौंतों और बिजली कटौती के खिलाफ प्रतिवाद जारी है। उदाहरण के लिए देशज ग्रुपों को आंदोलन का अभिन्न भाग माना जाता है, 'जेहादवादियों' की सहभागिता की उम्मीद नहीं करता है क्योंकि विदेशी ताकत होने के कारण वे अपनी सत्तावादी योजना लादना चाहते हैं। लेकिन आंदोलन 'जेहादवादियों' के खिलाफ नहीं होने जा रहा क्योंकि भारत सरकार ऐसा आग्रह करती हैं उसके जारज (गैर-योद्धाओं को मारा जाना) कामों और सत्तावादी विचारधारा के बावजूद उसे घृणित सुरक्षा बलों की तुलना में जवाबी ताकत माना जाता है। अतीत भी सीख देता है। भारत सरकार ने बार-बार स्पष्ट किया है क जब जनता हथियार उठा लेती है तभी वह सुनती है, कि वह सशस्त्र ग्रुपों की साख बढ़ाती है और अहिंसक आंदोलन का तिरस्कार करती हैं। यह अकारण नहीं है कि 1994 में जे. के.एल.एफ. के एकतरफा युद्धविराम का परिणाम वार्ता न होकर इसके 600 से अधिक सदस्यों की हत्या थी। इसी प्रकार, जब कि आल पार्आी हुर्रियत कान्फ्रेंस ने अहिंसक संघर्ष मार्ग चुन लि है, शान्तिपूर्ण आंदोलन करने या विरोध और प्रदर्शन आयोजित करने के इसके अधिकार को नकार दिया गया है। इसके ठीक विपरीत आंदोलन पर गद्दारों से हमला करवाया जाता है और संघ परिवार शिवसेना और पनुन कश्मीर जैसे घृणा फैलाने वाले ग्रुपों को खुली छूट दी जाती है। इसलिए वार्ता की एक पूर्व-शर्त के रूप में लड़ाकुओं से हथियार डाल देने की उम्मीद करना व्यर्थ है। वास्तव में तोपें भी खामोश नहीं रहेंगी जब तक कि संकल्प के प्रति ईमानदारी नहीं बरती जाती। इस दृष्टि से आल पार्टी हुर्रियत कांफ्रेंस और पाकिस्तान से बिला शर्त वार्ता के बिना शांति प्रक्रिया ही अनावश्यक है।

इसके अतिरिक्त जम्मू और कश्मीर के विभाजन को रद्द कर देने का मुद्दा भी कार्यसूची में है। अभी तक इसका अर्थ यह समझा जाता था कि भारत और पाकिस्तान का जम्मू और कश्मीर के उस क्षेत्र पर दावा जो एक-दूसरे के अधिकार में है। जो लोग विभाजित आबादी के एकीकरण के पक्ष मं थे उन्हें हाशिये पर खड़े लोग माना जाता था। आत्मनिर्णय के अधिकार की मांग का यह अब केन्द्रीय हिस्सा बन गया है। आंदोलन और लड़ाकुओं को विशेषकर पाक अधिकृत कश्मीर से 11 वर्षो से नैतिक और भौतिक समर्थन मिलता रहा है। आंदोलन में शरीक बहुतेरे लोगों ने हथियार उठा लिया। निश्चित रूप से पाकिस्तानी शासन 'जेहादवादियों' को सहारा देने के काम में लिप्त हे। लेकिन इस बहाने से कोई काम नहीं बनने वाला कि यही सब कुछ है जो महत्त्वपूर्ण है क्योंकि जनसाधारण ने विद्रोह कर दिया है और 'आजादी' (स्वतंत्रता) की मांग ने नये अन्तरसम्बन्धों को उजागर कर दिया है।

स्वायत्तता के प्रश्न पर उत्पन्न तीव्र उत्तेजना इसे और ज्यादा स्पष्ट कर देती है। केन्द्रीय गृहमंत्री ने एक झटके में वार्ता की उपयोगिता को कमजोर बना दिया जब उन्होंने इस बात पर बल दिया कि विचार विमर्श 'संविधान के दायरे के अंदर और पूर्व-1953 की स्थिति को छोड़कर' किया जाये। इस प्रस्ताव को समस्त राजनीतिक दलों का समर्थन मिला। स्वायत्तता और अलगाववाद को एक ही चीज बताते हुए भारतीय जनता पाटी ने कठोर रुख अपनाया। कांग्रेस ने 1975 के बेग-पार्थसारथी समझौते की उपलब्धि को ढूंढ़ निकाला जो जम्मू और कश्मीर तक विस्तारित संवैधानिक प्राविधानों को 'अपरिवर्तनीय' मानता है लेकिन जिसने 1953-74 में पारित कानूनों को निरस्त करने के राज्य के अनुरोध पर केन्द्र सरकार को 'सहानुभूतिपर्वूक विचार करने' के लिए विवश किया। जबकि शेष अन्य दल 1953-74 के बीच झूलते रहे। ऐसी उम्मीद की जाती थी कि 'संघ परिवार' और उसके पिछलग्गू भावनाओं को भड़काने के लिए भय और द्वेष का लाभ उठायेंगे। लेकिन विलक्षण बात यह रही कि किसी ने यह नहीं बताया कि वे कश्मीरियों को किस तरह समझायेंगे कि वे 'आजादी' से कम किसी बात के लिए मान जायें और स्वायत्तता का समर्थन करें।

इसके अतिरिक्त यदि भारत सरकार के दावे और विलय दस्तावेज की वैधता को स्वीकार किया जाता है तो 26 जनवरी, 1950 में जारी पहला कान्स्टीट्शनल (अप्लीकेशन टू जम्मू एंड कश्मीर) आर्डर 1950 वह आधार प्रदान करता है जिसने जम्मू और कश्मीर 'विशेष दर्जा' का वादा किया। 1852 के दिल्ली समझौते ने इसका समर्थन किया जिसे 7 अगस्त 1952 को संसद ने स्वीकार कर लिया। आंतरिक स्वायत्तता का क्षरण 1953 में बक्शी गुलाम मोहम्मद के कार्यकाल में आरम्भ हुआ जिनकी नियुक्त संदेह के घेरे में है। इसलिए राज्य स्वायत्तता समिति आटोनामी कमेटी, (सैक) रपट 1953 पूर्व स्थिति की बहाली की सिफारिश करती है। राष्ट्रपति द्वारा जारी पर 42 आदेश जिनकी पवित्रता की केन्द्रीय मंत्रिमंडल को सर्वाधिक चिन्ता है, 1952 के दिल्ली समझौते का उल्लंघन

करते हैं। वास्तव में कुछ ओदश जिन्हें केन्द्रीय मंत्रिमंडल लागू रखने के लिए बहुत इच्छुक है, उनकी सामूहिक समझदारी की कमजोरी को उजागर करती है। 'सैक' रपट बताती है कि 'पंजाब में 11 मई 1987 से लागू राष्ट्रपति शासन की अवधि को बढ़ाने के लिए 59वें, 64वें, 67वें और 68वें संविधान संशोधन द्वारा चार बार संविधान में संशोधन करना पड़ा। जम्मू और कश्मीर राज्य में धारा 370 के अंतर्गत जारी कार्यकारी आदेशों द्वारा यही परिणाम हासिल किया गया। रिपोर्ट सिद्ध करती है कि किस प्रकार 1953 में शुरुआत करके धारा 370 ने हानिप्रद संदिग्ध रूप धारण कर लिया। राज्य की स्वायत्तता की संरक्षा के लिए बनायी गयी धारा को जान बूझकर राज्य की स्वायत्तता को नष्ट करने में इस्तेमाल किया जा रहा है। रपट में एक ज्वलंत उदाहरण दिया गया है। जुलाई 30, 1986 को जब राज्य केन्द्रीय शासन के अधीन था और जगमोहन राज्यपाल थे तब 'राज्यसत्ता में पारित प्रस्ताव के आधार पर राष्ट्रपति ने धारा 370 के अंतर्गत एक आदेश जारी किया जिससे संविधान की धारा 249 राज्य पर लागू हो गयी और संसद को राज्य सूची में अंकित विषय पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो गया।' 'सैक' रपट का मानना है कि 'सभी आदेश आपत्तिजनक नहीं है।' वित्त के मामले में (धारा 264-300ए) रपट सिफारिश करती है 'कि इस पर राज्य के प्रतिनिधियों और केन्द्र सरकार के बीच गहराई से विचार-विमर्श होना चाहिए।' सर्वोच्च न्यायालय के कार्यक्षेत्र को निरस्त करने का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है। चुनाव आयोग के कार्यक्षेत्र को सीमित करने के मामले में सवाल किया जा सकता है लेकिन यही बात अखिल भारतीय सेवाओं के विस्तार (धारा 308-323) के बारे में नहीं की जा सकती है। रपट दावा करती है कि इसमें 'बौनी स्थानीय प्रतिभाएं हैं तो यह तर्कसंगत बात पर बल देती है। रपट यह भी बताती है कि स्थानीय युवाओं से 'सिविल सेवा के शाही मॉडल' की अपेक्षा नहीं की जा सकती है जिनकी क्षेत्र के लिए संवेदनायें और क्षेत्रीय जनता की सेवा करने के प्रति भावुक लगाव प्रबल होता है। संक्षेप ममें यदि भारत सरकार अपने दावों पर अडिग है तो 'सैक' (SAC) ने भी जम्मू और कश्मीर में आंतरिक स्वायत्तता की सिफारिश की है।

यह सही है कि सैक रपट का जम्मू और लेह के हिस्सों में विरोध हुआ है। पीपुल्स इनीशियेटिव फार पीस एंड यूनिटी ('पीपू') और 'संघ परिवार' जैसे संगठनों ने 'कश्मीरी प्रभुत्व' के खिलाफ आंदोलन की अगुवाई ऐसे वक्त में की है जब कश्मीरी जिंदगी और आजादी के अधिकार से वंचित हैं। वास्तव में वे आंदोलन के क्रूर सैनिक दमन के समर्थक हैं। उनकी विचारधारात्मक अवस्थिति में जनतांत्रिक समाधान का स्थान नहीं है। यह एक विरोधाभास है कि 'संघ परिवार' और 'पीपू' जम्मू और कश्मीर के क्रमशः तीन और चार विभाजन की वकालत करते हैं। जम्मू ओर कश्मीर के तीन टुकड़े करने के बहाने 'संघ परिवार' ने कश्मीर में जन सांख्यकीय रूपांतरण के प्रस्ताव को पुनर्जीवित कर दिया है जिसके अंतर्गत जम्मू को राज्य का दर्जा, लद्दाख को केन्द्र शासित क्षेत्र का दर्जा दिया जायेगा और कश्मीर को सुरक्षा क्षेत्र में बदल दिया जायेगा जहां बड़ी संख्या में 'राष्ट्रवादियों' को बसाया जायेगा ओर सेना को 'खुली छूट' दी जायेगी। 'पीपू' की राय में घाटी का विभाजन कर दिया जाये और भारत सरकार झेलम नदी के उत्तर और पूर्व में बसने के लिए 'उनकी मदद करे'।

यह सही है कि कश्मीरवासी नेशनल कांफ्रेंस के कुशासन और भ्रष्टाचार से ऊब चुके हैं। लेकिन यह भी उतना ही सही है कि जम्मू और कश्मीर और पूर्वोत्तर राज्यों में केन्द्र सरकार की सामान्य नीति भ्रष्ट तरीकों से व्यक्तियों के चुनाव करने की रही है। जब तक यह नीति भारत सरकार के प्राधिकार को सुदृढ़ करती रही, सभी इससे सहमत थे। और अब नेशनल कांफ्रेंस के भ्रष्टाचार और कुशासन का रोना जबकि केन्द्रीय सरकार इसको भ्रष्ट करने में पहले से शामिल भी अपने पाप को दूसरे मत्थे मढ़ने जैसा है। जम्मू और कश्मीर तथा पूर्वोत्तर राज्यों को आर्थिक रूप से मजबूत और आत्मनिर्भर बनाने में केन्द्र सरकार ने कभी भी दिलचस्पी इसलिए नहीं ली कि ऐसा हो जाने पर अलगाववाद को बढ़ावा मिलेगा। इस प्रकार भारत सरकार का उच्चतर नैतिक मूल्यों पर दावा स्वीकार्य नहीं है। केन्द्र की नीति राज्यों की वित्तीय निर्भरता को बढ़ाते जाने की रही है। वित्तीय मामलों में कठोर नियंत्रण उस बिन्दु तक पहुंच गया कि राज्य उन कर्मियों को वेतन देने में असमर्थ हो गया जिन्हें प्रशासन चलाना था। धनाभाव के कारण न केवल जरूरतमंदों (औरतों, बच्चों और बूढ़ों) को दुर्लभ संसाधनों के लिए पारस्परिक होड़ में शरीक होना पड़ता है बल्कि आवश्यक सेवायें भी बाधित होती हैं और वस्तुओं की कमी विलम्ब और घूस के लिए रास्ता साफ करती है। जम्मू और कश्मीर जिसे भारत का 'अभिन्न भाग' समझा जाता है और जहां भारत सरकार के दावे के अनुसार पाकिस्तान 'परदे के पीछे का युद्ध' चला रहा है, इन हालात को चलने देना खुद अपनी कहानी बयान करती है। (अगले अंक में जारी)

(रिवोल्यूशनरी डेमोक्रेसी, Vol. VII, No. 2 से साभार)

अनुवाद : जी.पी. भट्ट

फार्म 4

(नियम 8 के अन्तर्गत)

पत्रिका का नाम	- दायित्वबोध
प्रकाशन का स्थान	- गोरखपुर
प्रकाशन अवधि	- त्रैमासिक
मुद्रक का नाम	- विश्वनाथ मिश्र
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- एमआईजी 134, राप्तीनगर फेज एक, गोरखपुर
प्रकाशक का नाम	- विश्वनाथ मिश्र
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- एमआईजी 134, राप्तीनगर फेज एक, गोरखपुर
संपादक का नाम	- विश्वनाथ मिश्र
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- एमआईजी 134, राप्तीनगर फेज एक, गोरखपुर
उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचारपत्र के स्वामी हों तथा समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों।	- विश्वनाथ मिश्र - एमआईजी 134, राप्तीनगर फेज एक, गोरखपुर

मैं, विश्वनाथ मिश्र, एतद् द्वारा घोषणा करता हूं कि मेरी अध्कितम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार सत्य ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं।

हस्ताक्षर

विश्वनाथ मिश्र

दिनांक : 31.1.2002 प्रकाशक

नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) और संयुक्त क्रान्तिकारी जन परिषद, नेपाल की ओर से अन्तरराष्ट्रीय समुदाय से अपील

नेपाल में आतंकवाद को कुचलने के नाम नेपाल सरकार द्वारा पिछले 26 नवम्बर 2001 को आपात की घोषणा के बाद यह अपील पिछले 3 दिसम्बर 2001 को जारी की गयी थी। इसकी प्रतियां संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव, संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति, यूरोपीय संघ के अध्यक्ष, भारत के प्रधानमंत्री और चीन के राष्ट्रपति को भेजी गयी हैं। नेपाल के ताजा हालात की सच्चाइयों के बारे में 'दायित्वबोध' के पाठकों को अवगत कराने के लिए अंग्रेजी में लिखे पत्र का हिन्दी अनुवाद हम यहां प्रस्तुत कर रहे हैं। सम्पादक

श्रीमान,

हम, नेपाल की दो करोड़ चौंतीस लाख जनता के सच्चे प्रतिनिधि और इस देश में जारी क्रान्तिकारी जन आन्दोलन के नेता के रूप में, अन्तरराष्ट्रीय समुदाय को नेपाल की वस्तुस्थिति के बारे में अवगत कराना अपना कर्तव्य समझते हैं और सभी लोगों से यह अपील करते हैं कि वे उस लड़खड़ाते पुराने राज्य द्वारा किये जा रहे एकतरफा प्रचार से गुमराह न हों जो उधार में मिले समय के भरोसे अपना वजूद बचाने की हताशापूर्ण कोशिशों में लगा हुआ है।

नेपाल के पुराने प्रतिक्रियावादी राज्य का प्रमुख ज्ञानेन्द्र शाह, जिससे लोग नफरत करते हैं, जो एक जून 2001 को नरेश वीरेन्द्र के समूचे परिवार के बर्बर कत्लेआम का मुख्य षड्यंत्रकारी है और कातिलों के गिरोह का सरदार है, तेजी के साथ अपने ही वजन से दबकर चूर-चूर हो रहा है। 26 नवम्बर को आपातकाल की घोषणा, जनता के सभी बुनियादी ओर नागरिक अधिकारों का निलम्बन और देश के ऊपरी फौजी तानाशाही को थोपना कातिलों के इस गिरोह द्वारा अपने अवैधानिक और अलोकप्रिय शासन को जिन्दा रखने की आखिरी हताशाभरी कोशिश है। इस फासीवादी गुट द्वारा इन दिनों बेगुनाह आम लोगों के अंधाधुंध कत्लेआम, स्त्रियों के साथ बलात्कार, सम्पत्ति की लूट, प्रेस की आजादी का गला घोंटने, विरोध में आवाज उठाने वाले नागरिकों को जेलों में ठूंसने के रूप में आतंक का जो कहर बरपा होना शुरू हुआ है वह सारी हदों को पार कर रहा है। दरअसल मौजूदा घटनाक्रम पिदले जून में ज्ञानेन्द्र द्वारा राजमहल में किये गये बर्बर कत्लेआम और तख्तापलट की ही अगली कडत्री है जिससे देश में धीरे-धीरे आगे बढ़े रही जनतांत्रीकरण की प्रक्रिया को उलटा जा सके और फर्जी राजशाही के अधीन सैनिक तानाशाही कायम की जा सके। इसे हम उसी समय से उजागर करते रहे हैं। नेपाल में संसदीय संस्थायें सर्वशक्तिमान राजशाही की हल्की छायायें भर ही हैं, जो परम्परागत रूप से राज्य की सशस्त्र सेनाओं को नियंत्रित करती है। और पिछले दिनों क्रान्तिकारी शक्तियों के साथ चली शान्ति वार्ताएं ज्ञानेन्द्र द्वारा अपने फासिस्ट एजेण्डा को आगे बढ़ाने के लिए मोहलत हासिल करने और अपनी स्थिति मजबूत बनाने की नीयत से रचे गये जाल थे।

ताजा स्थिति यह है कि इस शासक गुट द्वारा अन्तरराष्ट्रीय समुदाय की आंखों में धूल झोंकने, विश्व जनमत को अपने पक्ष में खड़ा करने और अपनी बर्बर सैनिक तानाशाही को सही सिद्ध करने के लिए एक हताशापूर्ण दुष्प्रचार अभियान शुरू कर दिया गया है। नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) के नेतृत्व में चल रहे क्रान्तिकारी जनान्दोलन को ''आतंकवादी'' घोषित करना और हाल की शान्तिवाताओं को तोड़ने का दोष हमारे ऊपर मढ़ना ऐसी ही एक कोशिश है। जबकि तत्य इसके ठीक उलट है। जब सामन्ती राज्यतत्रं, अर्थव्यवस्था और संस्कृति के सर्वतामुखी जनतांत्रीकरण के सभी शान्तिपूर्ण राजनीतिक रास्तों को इन परम्परागत निहित स्वार्थों ने जबर्दस्ती रोक दिया केवल तभी हमने जनता के सशस्त्र प्रतिरोध की कार्रवाइयों का नेतृत्व करने की जिम्मेदारी संभाली। हमने हमेशा हताश तत्वों द्वारा एक प्रतिक्रियावादी और दकियानूसी विचारधारा के दम पर आतंकवाद का सहारा लेने और एक वैज्ञानिक विचारधारा के मार्गदर्शन में भविष्योन्मुख जनाधारित क्रान्तिकारी आन्दोलन के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींची है। नवजनवाद या जनता के जनवाद की हमारी खुले तौर पर घोषित नीतियां एवं कार्यक्रम, वर्ग, जाति, राष्ट्रीयता और लिंगभेद पर आधारित उत्पीड़न के शिकार कोटि-कोटि जनों की हमारे आन्दोलन में स्वैच्छिक भागीदारी हमारे खिलाफ किसी भी तरह के बदनीयती भरे दुष्प्रचार को आसानी से फटकार देगी ओर हमारे प्रगतिशील, जनतांत्रिक राजनीतिक विश्वासों को कायम करेगी। हमारा आपसे निवेदन हे कि आप अपने स्वतंत्र स्रोतों से यह सच्चाई प्रमाणित कर लें कि देश भर में हमारे जनान्दोलन को कितना जबर्दस्त जनसमर्थन हासिल है और पुराना शासन कितना अलग-थलग और घृणा का पात्र है।

जहां तक हमारे ऊपर लगाये गये इस झूठे आरोप का सवाल है कि पुराने राज्य के प्रतिनिधियो के साथ वार्ताओं के ताजा दौर से हम बाहर निकले हैं, तथ्य यह है कि हमारे पक्ष ने ही अधिकतम धैर्य और लचीलापन दिखाया है और समस्या के न्यूनतम सम्भव राजनीतिक समाधान की कोशिश की। एक तात्कालिक राजनीतिक समाधान के रूप में हमने एक अन्तरिम सरकार के गठन, एक नये संविधान का मसविदा तैयार करने ओर गणराज्य घोषित करने का प्रस्ताव किया थां लेकिन जब राज्य के गणतांत्रिक स्वरूप का विचार सत्ता पक्ष द्वारा स्वीकार नहीं किया गया तो हमने विकल्प के रूप में एक चुनी हुई

संविधान सभा बुलाने का प्रस्ताव रखा जिससे स्वयं सम्प्रभु जनता को राजशाही और गणतंत्र में चुनव करने का अन्तिम अधिकार मिल सके। इस प्रस्ताव को भी एक ही झटके में नकार दिया गया और फासीवादी शासक गिरोह ने पूरे देश में शही सेना को गोलबन्द कर दिया। ऐसे में जनता के पास वापस लौटने और आन्दोलन जारी रखने के सिवा हमारे पास कोई विकल्प नहीं बचा था। बाद के घटनाक्रमों ने पूरी तरह साबित कर दिया है कि असली राज्यसत्ता शाही सेना पर अपने नियंत्रण के जरिये भ्रातृहंता और राजहन्ता ज्ञानेन्द्र गुट के पास है और तथाकथित चुनी हुई सरकार और संसद इसके हाथों की बेजान कठपुतलियां हैं। यहां तक गौरतलब है क आज की नेपाली राजनीति में सामन्ती-फौजी ताकतों के इस वर्चस्व की जमीनी सच्चाई के मद्देनजर हमने एक जिम्मेदाराना और लचीला रुख अपनाते हुए नव जनवाद या जनता के जनवाद के अपने घोषित लक्ष्य पर अड़े रहने की बजाय गणतंत्र को संस्थाबद्ध करने और संविधान सभा के जरिये एक नया संविधान बनाने के जरिये 'पुराने जनवाद' को फलीभूत करने की कोशिश की। हम इस प्रस्ताव पर आज भी कायम हैं ओर सभी सशस्त्र कार्रवाइयों को मुल्तवी करने और भंग वार्ता फिर से बेहाल करने के लिए तैयार हैं, बशर्ते दूसरा पक्ष इस पर राजी हो।

इस प्रकार नेपाल में मौजूदा संघर्ष 'जनवाद' और आतंकवाद के बीच नहीं है, जैसाकि घोर प्रतिक्रियावादी शासक गिरोह बदनीयती के साथ प्रचारित करने में जुटा हुआ है, बल्कि एक तरफ, सभी सामन्ती बेड़ियों से मुक्त एवं जनता के विशाल बहुमत का प्रतिनिधित्व करने वाले सच्चे जनवाद, और दूसरी ओर विदेशी मदद के बूते अपना अस्तित्व बचाने में जुटे सामन्ती सैन्यवाद के बीच है। नेपाल के देहातों में वर्ग, जाति, लिंगभेद आधारित, राष्ट्रीय और क्षेत्रीय उत्पीड़न की सभी बेड़ियों को तोड़ देने वाले सर्वतोमुखी जनतांत्रीकरण की प्रक्रिया तेजी से आगे बढ़ रही है, और हम इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के नेतृत्वकारी कोर के रूप में अन्तरराष्ट्रीय जनतांत्रिक शक्तियों का आह्वान करते हैं कि वे नेपाली जनता की जनतांत्रिक आकांक्षाओं का सम्मान करें और किसी भी रूप में इसमें अड़ंगा न डालें। लड़खड़ाते पुराने राज्य को सैनिक या किसी भी अन्य प्रकार की मदद जनता पर हो रहे अत्याचारों को बढ़ावा देने में फासीवादी फौजी ताकतों की मदद करेगी और जनता के बुनियादी मानवीय एवं नागरिक अधिकारों को रौंद डालेगी, और इस तरह यह सीधे-सीधे सार्वभौमिक जनतांत्रिक मूल्यों के खिलाफ होगी।

चूंकि जनता के विशाल बहुमत ने पुराने उत्पीड़नकारी राज्य के खिलाफ बगावत किया है और वस्तुतः देश के सभी देहाती इलाकों में स्थानीय सत्ता का रूप ढूंढ़ निकाला है, इसलिए यह हमारा कर्तव्य बन जाता है कि हम केन्द्रीय स्तर पर भी एक वैकल्पिक राजनीतिक सत्ता को संगठित करने में पहलकदमी लें। एक संयुक्त क्रान्तिकारी जन परिषद के रूप में इस दिशा में शुरुआत की गयी है, जो नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) के नेतृत्व में सभी प्रगतिशील एवं जनवादी शक्तियों का एक संयुक्त क्रान्तिकारी संयुक्त मोर्चा है। इसलिए हम अन्तरराष्ट्रीय समुदाय से यह उम्मीद रखते हैं कि नेपाल के बारे में कोई भी महत्त्वपूर्ण द्विपक्षीय या बहुपक्षीय निर्णय लेने से पहले नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) और संयुक्त क्रान्तिकारी जनपरिषद से वह परामर्श ले।

नेपाल में भ्रूण रूप में विकसित हो रहे एक नये राज्य के रूप में हम आपको भविष्य सम्बन्धी अपनी नीतिगत प्रतिबद्धताओं से भी अवगत कराना चाहते हैं। सम्पूर्ण अर्थों में राज्य के जनवादी के रूप के प्रति हमारी प्रतिबद्धता के बारे में लोग भलीभांति जानते हैं जो जनता को हर प्रकार की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आजादी सुनिश्चित करेगी। विदेश नीति के क्षेत्र में हम दुनिया के सभी देशों के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के पांच सिद्धान्तों (पंचशील) के प्रति प्रतिबद्ध हैं। हम खास तौर पर अपने दो विशाल पड़ोसियों, भारत व चीन के बाद अपने देश के स्थित होने की भू-रणनीतिक विशिष्टताओं के प्रति सतर्क हैं, और गुटनिरपेक्षता पर अडिग रहते हुए इन दोनों देशों के साथ दोस्ताना रिश्ते विकसित करने के लिए प्रयत्नशील रहेंगे। इसलिए, हम सभी देशों, अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं और खासकर दो सबसे पास के पड़ोसियों, भारत व चीन से यह उम्मीद रखेंगे कि वे नेपाल के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करें और नेपाली जनता को स्वयं अपना राजनीतिक भविष्य निर्धारित करने दें।

आने वाले दिनों में हार्दिक और परस्पर लाभप्रद रिश्तों की ओर बढ़ने की आशा के साथ,

बाबूराम भट्टराई
संयोजक, संयुक्त क्रान्तिकारी जन परिषद, नेपाल
प्रचण्ड
अध्यक्ष
नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) और
सुप्रीम कमाण्डर, जनमुक्ति सेना, नेपाल

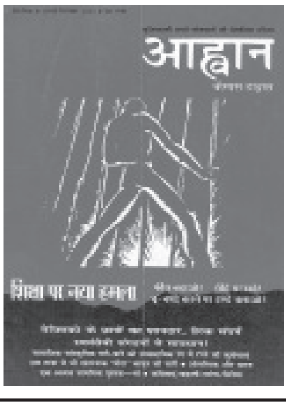

इंकलाबी छात्रों-युवाओं की त्रैमासिक पत्रिका

आह्वान कैम्पस टाइम्स

सम्पादकीय कार्यालय : 'आह्वान कार्यालय', कल्याणपुर, गोरखपुर-273 001

एक प्रति : छह रुपए, वार्षिक : 24 रुपए (डाकव्यय सहित 32 रुपए)

email : ahwancampustimes@rediffmail.com

सर्वहारा अधिनायकत्व के सिद्धान्त का भली-भांति अध्ययन करो

चीन में समाजवाद की समस्याओं से लगातार जूझते हुए, पूंजीवादी पुनर्स्थापना के लिए लगातार प्रयत्नशील संशोधनवादियों से मोर्चा लेते हुए और विश्व पटल पर ख्रुश्चेवी संशोधनवादियों पर लगातार प्रत्याक्रमण करते हुए माओ त्से-तुङ ने व्यवहार और चिन्तन की एक लम्बी प्रक्रिया से गुजरने के बाद सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की सैद्धान्तिक पूर्वपीठिका तैयार की। समाजवादी संक्रमणकालीन आर्थिक मूलाधार और अधिरचना में मौजूद पूंजीवादी पुनर्स्थापना के कारक तत्वों की गतिकी को समझने के बाद माओ ने यह मार्ग निकाला कि समाजवाद के दौर में वर्ग संघर्ष का संचालन किस प्रकार किया जायेगा और पूंजीवादी पुनर्स्थापना के लिए प्रयत्नशील नये-पुराने बुर्जुआ तत्वों और उनके आधारों को नष्ट करते हुए कम्युनिज्म की ओर प्रयाण करने की आम दिशा क्या होगी। इसी चिन्तन और प्रयोग के दौरान ''सर्वहारा वर्ग के सर्वतोमुखी अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत क्रान्ति'' और ''अधिरचना में क्रान्ति'' जैसी अवधारणाएं सामने आयीं ओर विकसित हुईं।

फरवरी 1966 में पहले 'सांस्कृतिक क्रान्ति ग्रुप' के गठन के साथ ही मानो सर्दियों के अन्त की घोषणा कर दी गई। '7 मई निर्देश' के द्वारा शिक्षा में क्रान्ति' विषयक सूत्र पेश करके माओ ने वसंत के वज्रनाद के बाद, गर्मियों का ताप पैदा करने का काम शुरू कर दिया, जिसे '16 मई निर्देश' और नये सांस्कृतिक क्रान्ति ग्रुपों के गठन से एक नया संवेग मिला। यथास्थिति के पोषकों और यथास्थिति के आलोचकों के बीच दो लाइनों का संघर्ष विश्वविद्यालयों-कालेजों और संस्कृति के दायरों से आगे बढ़कर कल-कारखानों और गांवों तक फैल गया। 29 मई को सिनहुआ विश्वविद्यालय में रेडगार्डों की पहली दुकड़ी गठित हुई। 16 जुलाई को 66 वर्षीय माओ ने तूफानी याङ त्से नदी का विशाल पाट तैरकर पार करके प्रतीकात्मक रूप से चीनी जनता को धारा के विरुद्ध खड़े होने और तूफानों से मोर्चा लेने का संदेश दिया। एक अगस्त को पार्टी की केन्द्रीय कमेटी के प्लेनम के बाद 5 अगस्त को माओ ने ''हेडक्वार्टर को ध्वस्त करो'' नामक अपना ऐतिहासिक ''बड़े चित्राक्षरों वाला पोस्टर'' जारी किया और पार्टी के नेतृत्व में जड़ जमाये बैठे पूंजीवादी पथगामियों पर सीधे हल्ला बोलने का संदेश दिया। इसके तीन दिन बाद ही चीनी पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने निर्णय लेकर वह इतिहास-प्रसिद्ध सोलह सूत्री सर्कुलर जारी किया जिसे सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का पहला कार्यक्रमपरक, ठोस दस्तावेज माना जाता है।

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के तीसरे दशाब्दी वर्ष के अवसर पर हमने नवम्बर 1996 के अंक से इस क्रान्ति के चुने हुए दस्तोवेजों और लेखों के प्रकाशन का सिलसिला शुरू किया था। अब तक हम 'सोलहसूत्री सर्कुलर' 'सर्वहारा अधिनायकत्व की विजय अमर रहे' पार्टी अखबारों के संपादकीय द्वारा, 'बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में' (चाङ चुन-चियाओ), 'पेरिस कम्यून की महान शिक्षाएं' (चेङ चिह-स्तजू), 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति अमर रहे' ('लाल झण्डा' का सम्पादकीय), 'एक युगान्तरकारी दस्तावेज' (16 सूत्री सर्कुलर के प्रकाशन की दूसरी वर्षगांठ पर प्रमुख अखबारों के सम्पादकीय विभागों का लेख), 'चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं कांग्रेस में प्रस्तुत रिपोर्ट', 'पूंजीवादी पथगामी पार्टी के भीतर बैठा बुर्जुआ वर्ग है' (फाङ काङ), 'कम्युनिस्टों को सर्वहारा वर्ग के अग्रणी तत्व होना चाहिए' (प्रमुख अखबारों के सम्पादकीय विभागों का लेख), 'सतत क्रान्ति के अध्यक्ष माओ के सिद्धान्त का अध्ययन करो' (चाओ चाङ), 'समाजवादी काल में वर्ग संघर्ष के नियम' (चि पिङ), 'इतिहास कुण्डलाकार गति से आगे बढ़ता है' (हुङ यू) तथा 'केन्द्रीय अध्ययन कक्षा को रिपोर्ट' (वाङ हुङ-वेन) का प्रकाशन कर चुके हैं। इसके अलावा सांस्कृतिक क्रान्ति तथा माओकालीन चीन में मार्क्सवाद पर जार्ज थामसन के लेख भी हमने छापे हैं।

सम्पादक

हमारे महान नेता अध्यक्ष माओ ने हाल ही में सिद्धान्त के प्रश्न पर एक महत्त्वपूर्ण निर्देश दिया है।

अध्यक्ष माओ ने बताया है : ***''बुर्जुआ वर्ग पर सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व लागू करने की बात लेनिन क्यों करते थे? इस सवाल को ठोंक-बजाकर समझ लेना चाहिए। इस प्रश्न पर स्पष्टता का अभाव संशोधनवाद की ओर ले जायेगा। यह समूचे राष्ट्र को बता दिया जाना चाहिए।''***

अध्यक्ष माओ के इस निर्देश का पार्टी की बुनियादी कार्यदिशा को और अधिक आत्मसात करने व उसे लागू करने के लिए; लिन प्याओ और कन्फ्यूशियस की आलोचना के आन्दोलन को व्यापक बनाने, गहरा बनाने और उसमें लगातार दृढ़ता से जुटे रहने के लिए; संशोधनवाद को रोकने और उसका मुकाबला करने के उद्देश्य से एक कारगर संघर्ष चलाने के लिए; और देश में सभी राष्ट्रीयताओं की जनता के क्रान्तिकारी एकता को सुदृढ़ करने के लिए तात्कालिक एवं दूरगामी दोनों सन्दर्भों में अत्यधिक ऐतिहासिक महत्त्व है।

मार्क्सवाद का यह एक बुनियादी सिद्धान्त है कि सत्ता पर अधिकार जमाने के बाद सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ वर्ग के ऊपर अनिवार्य रूप से अधिनायकत्व लागू करना चाहिए। दूसरे इण्टरनेशनल के संशोधनवाद के विरुद्ध अपने संघर्ष में लेनिन ने सर्वहारा अधिनायकत्व की जरूरत और उसके कार्यभारों के बारे में गहन विवेचना की थी। सर्वहारा अधिनायकत्व के मार्क्सवादी सिद्धान्त को आधार बनाकर, अध्यक्ष

पीकिंग रिव्यू, अंक 7, 14 फरवरी 1975 और **रेनमिन रिबाओ (पीपुल्स डेली),** 9 फरवरी 1975 का सम्पादकीय।

माओ ने अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन और हमारी पार्टी के ऐतिहासिक अनुभवों का सारसंकलन किया, सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत क्रान्ति के नैरन्तर्य के सिद्धान्त को उन्नत किया और समाजवाद के समूचे ऐतिहासिक कालखण्ड के लिए हमारी पार्टी की बुनियादी कार्यदिशा का निर्धारण किया। सर्वहारा अधिनायकत्व के बारे में मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ त्से-तुङ विचारधारा का सिद्धान्त समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी निर्माण में सफलता का मार्गदर्शन करने वाला प्रकाश-स्तम्भ है। इसका भलीभांति अध्ययन करने के लिए हमें पूरी लगन और ईमानदारी से प्रयास करना चाहिए कि बुर्जुआ वर्ग पर सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व लागू करना क्यों आवश्यक है; सर्वहारा अधिनायकत्व के कार्यभार क्या हैं और इस अधिनायकत्व के सुदृढ़ीकरण के लिए हमें किस तरह संघर्ष करना चाहिए।

अध्यक्ष माओ द्वारा शुरू की गयी और उनके नेतृत्व में चली महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति स्वयं सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत क्रान्ति जारी रखने का एक महान व्यवहार था। हमने ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ के बुर्जुआ हेडक्वार्टरों को नष्ट कर दिया और पूंजीवादी पुनर्स्थापना की उनकी साजिश को कुचल दिया। लिन प्याओ और कन्फ्यूशियस की आलोचना करने के आन्दोलन में हमने लिन प्याओ की प्रतिक्रान्तिकारी संशोधनवादी लाइन और उसके महत्त्वपूर्ण विचारधारात्मक स्रोत, कन्फ्यूशियस और मेन्शियस के सिद्धान्तों की और आगे आलोचनाएं कीं, और जबर्दस्त कामयाबी हासिल की। हमारा सर्वहारा अधिनायकत्व पहले से अधिक सुदृढ़ हुआ। फिर भी, हमारी ओर से रत्ती भर भी ढिलाई नहीं होनी चाहिए। संशोधनवाद के खिलाफ हमारी लड़ाई एक दीर्घकालिक संघर्ष है, सिर्फ इक्का-दुक्का जोर-आजमाइश नहीं है। हमारा कार्यभार संशोधनवाद को पैदा करने वाली मिट्टी को बिना रुके खोदते रहना है, एक ऐसा कार्यभार जैसा कि लेनिन ने सामने रखा था, *''वे परिस्थितियां तैयार करना जिनमें बुर्जुआ वर्ग का जिन्दा रहना, या नये बुर्जुआ वर्ग का सिर उठाना असम्भव हो जाये।''* जाहिर है कि यह एक असीमित-अपरिमित कार्यभार है।

मार्क्स ने समाजवाद के बारे में इन शब्दों में चर्चा की है : *'...यह पूंजीवादी समाज से अभी* ***जन्मा*** *ही होता है; जिसपर हर मायने में, आर्थिक रूप से, नैतिक रूप से और बौद्धिक रूप से, उस पुराने समाज के जन्मचिह्न अंकित होते हैं, जिसके गर्भ से यह जन्मा होता है।''* इन जन्मचिह्नों को मिटाने के लिए दीर्घकाल तक समाजवादी क्रान्ति और निर्माण की राह पर चलने की जरूरत है। बुर्जुआ अधिकार अपरिहार्यतः हमारे समाज में लम्बे समय तक मौजूद रहेंगे। अध्यक्ष माओ ने इंगित किया है : ''चीन एक समाजवादी देश है। मुक्ति के पहले पूंजीवादी देश जैसा ही था। अभी भी यहां आठ ग्रेड वाली वेतन-प्रणाली, *हरेक को उसके काम के अनुसार वितरण और मुद्रा के जरिये वितरण लागू है, जो पुराने समाज में लागू प्रणाली से बिल्कुल थोड़ा ही भिन्न है। भिन्न केवल यह है कि स्वामित्व की प्रणाली बदल गयी है।''* अध्यक्ष माओ ने यह भी इंगित किया है : ''जहां तक बुर्जुआ अधिकारों की बात है, *सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत इन्हें केवल सीमित किया जा सकता है।''* इस तरह लिन प्याओ जैसे लोगों के लिए यह काफी आसान है कि सत्ता में आने के बाद वे पूंजीवादी व्यवस्था को आगे बढ़ायें। इसलिए, हमें मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन और स्तालिन और अध्यक्ष माओ की रचनाओं को अधिक से अधिक पढ़ना चाहिए। हमें यह समझ लेना चाहिए समाजवाद की अवधि मरणासन्न पूंजीवाद और नवजात कम्युनिज्म के बीच संघर्ष की अवधि है, और सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों में स्पष्टता के साथ देखना चाहिए कि समाजवाद क्या है और पूंजीवाद क्या है। हमें समझ लेना चाहिए कि समाजवाद में उत्पादन सम्बन्धों एवं उत्पादक शक्तियों के बीच और अधिरचना एवं आर्थिक आधार के बीच संगति और अन्तरविरोध अब भी मौजूद रहता है, और हमें अपना ध्यान उत्पादन सम्बन्धों की समस्याओं को हल करने और अधिरचना में समाजवादी क्रान्ति को कारगर ढंग से आत्मसात करने पर लगाना चाहिए। हमें जनसमुदाय की समाजवादी पहलकदमी को गतिशील बनाना चाहिए और समाजवादी अर्थव्यवस्था को बड़े पैमाने पर, तेज गति से, बेहतर ढंग से और किफायती नतीजों के साथ विकसित करना चाहिए।

लेनिन ने कहा था : *''छोटे पैमाने का उत्पादन लगातार, प्रतिदिन, प्रति घण्टा स्वतःस्फूर्त ढंग से, और व्यापक पैमाने पर पूंजीवाद और बुर्जुआ को* ***पैदा करता*** *है।''* यह मजदूरों के एक हिस्से और पार्टी सदस्यों के एक हिस्से के बीच से भी पैदा होता है। सर्वहारा वर्ग की कतारों और राज्य के कर्मचारियों दोनों के भीतर, ऐसे लोग होते हैं जो बुर्जुआ जीवन शैली अपनाते हैं। ये सभी बातें समाजवाद को नुकसान पहुंचाने वाली होती हैं। अपने अध्ययन में हमें इस बात की गहरी समझदारी अर्जित करनी चाहिए कि सर्वहारा अधिनायकत्व को केवल सत्ताच्युत जमींदारों एवं पूंजीपति वर्गों को ही नहीं कुचलना होगा और साम्राज्यवाद एवं सामाजिक साम्राज्यवाद की विध्वंसकारी गतिविधियों एवं हमलों से सुरक्षा ही नहीं करनी होगी बल्कि उसे नये पैदा हुए बुर्जुआ तत्वों के विरुद्ध भी संघर्ष करना होगा और बुर्जुआ वर्ग एवं पुराने समाज की पुरानी आदतों की शक्ति द्वारा सर्वहारा वर्ग के क्षरण और उस पर पड़ने वाले प्रभावों पर भी काबू पाना होगा। इस प्रकार हम अधिक सचेत रूप से समाजवादी मार्ग पर टिके रहेंगे, पूंजीवादी प्रवृत्तियों की आलोचना करेंगे जनता की क्रान्तिकारी एकता को प्रोत्साहित एवं सुदृढ़ करेंगे।

सर्वहारा अधिनायकत्व के प्रति रुख सच्चे मार्क्सवाद और नकली मार्क्सवाद के बीच भेद करने की कसौटी है। सभी संशोधनवादी निरपवाद रूप से येन-केन-प्रकारेण सर्वहारा अधिनायकत्व को विकृत करने, उस पर हमला करने या उसे विसर्जित कर देने की कोशिश में लगे रहते हैं। वे इस बात से इन्कार करते हैं कि समाजवादी समाज में सर्वहारा वर्ग एवं बुर्जुआ वर्ग के बीच तथा समाजवाद एवं पूंजीवाद के बीच मुख्य अन्तरविरोध होता है, कि संस्कृति के सभी क्षेत्रों समेत अधिरचना के क्षेत्र में सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ वर्ग के ऊपर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व कायम करना चाहिए, कि सर्वहारा अधिनायकत्व को अभी भी मौजूद बुर्जुआ अधिकारों पर जरूरी रोक लगानी चाहिए। इस प्रश्न पर, हमारे कुछ कामरेड भी एक या दूसरे प्रकार के भ्रमपूर्ण विचारों के फेर में पड़े रहते हैं और यहां तक कि कुछ पूंजीवादी बकवासों को समाजवादी बातें मान बैठते हैं। केवल लगन और ईमानदारी के साथ मार्क्सवाद का अध्ययन करके ही हम सच्चे मार्क्सवाद और नकली मार्क्सवाद के बीच भेद कर सकते हैं, सन्तुलित-दिमाग बन सकते हैं, पार्टी की

(शेष पृष्ठ 63 पर)

समय के पार छलांग

जब पूर्णिया के ग्रामीण क्षेत्र में अर्धसामन्ती व्यवस्था की मुठभेड़ बाजार से हुई

गैरी रोजर और **जेनी रोजर**

अप्रैल 1999 में हमने उत्तरी-पूर्वी बिहार के जिला पूर्णिया, ब्लाक-कस्बा के दो पड़ोसी गांवों का एक बार फिर अल्पकालिक दौरा किया। हमने 1971 व 1981 में भी यहां की गरीबी व रोजगार की हालत का सर्वेक्षण किया था। 1971 के सर्वेक्षण में देखा गया था कि सार्वजनक निर्माण परियोजनाओं के समीप वाले गांवों मं निर्माण कार्यो ने सिक प्रकार से ग्रामीण निर्धनता को प्रभावित किया (जी रोजर्स, 1973)। सन् 1981 में हमने इन सभी इलाकों का पुनः दौरा किया ताकि गरीब आबादी के रहन-सहन (जीवन परिस्थितियों) पर दूरगामी बदलावों का पता चल सकें (जी रोजर एवं आर रोजर, 1984)। दोनों ही बार हमने गांवां की सामान्य जानकारी एकत्र की एवं ढेर सारे लोगों, मुख्यतः खेतिहर मजदूरों, घरेलू लोगों से पूछताछ की। सन् 1981 में बहुत सारे निवासी तो वही थे जिनसे 1971 में विवरण लिया था। सन् 1999 में हमने इनमें से दो गावों पोखरिया व दुबैली बिस्वासपुर का दौरा किया। बहुत सारे उन्हीं पुराने परिवारों से सम्पर्क किया, अधिकांश मामलों में तो उन परिवारों के दूसरी पीढ़ी के सदस्यों से सम्पर्क हुआ। इन लोगों के साथ व दूसरे ग्रामीणों के साथ हमने इस दौरान घटी घटनाओं एवं परिवर्तनों, आय व रोजगार की हालत, आधारभूत संरचनाओं व आर्थिक परिवेश, सामाजिक संस्थानों एवं श्रम-‘बाजार आदि विषयों पर पुनर्विचार किया हालांकि हमारा यह दोरा एक विज्ञानपरक व औपचारिक सर्वेक्षण के लिए बहुत ही अपर्याप्त था, फिर भी पूर्व में किये गये दौरे के कारण हमारे लिये ग्रामीणों के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाना आसान हुआ तथा वहां पर घटित परिवर्तनों के मुख्य बिन्दुओं का शीघ्र अनुमान लगाना आसान हुआ।

ये दोनों गावं भी दूसरे हजारों गांवों की तरह गंगा के उत्तरी मैदान के बीच स्थित है, जहां पर अथाह भूमिगत जल व अधिकांशतः में तो बहुत अधिक सतही जल पाया जाता है। 1971 में मूलतः इन गांवों को एक नहर निर्माण परियोजना के पास होने के कारण चुना गया था। यह परियोजना तो कब की पूरी हो चुी लेकिन देखा गया कि इसका गांवों पर नगण्य ही प्रभाव पड़ा। आज इन गांवों का बाहरी दुनिया से सम्पर्क बन गया है। ब्लाक मुख्यालय तक सात किलोमीटर की टूटी-फूटी सड़क जो कि अधिकांशतः डामर की है तथा बरसात में कट भी जाती है। पूर्णिया के दूसरे गांवों की तरह इनमें से एक काफी छोटा है। यहां 1991 में 650 निवासी तथा दूसरा बड़ा है, जहां 3500 से अधिक निवासी रहते हैं। दोनों ही निश्चित तौर पर खेतिहर हैं। एक में तो मुख्यतः छोटी जोत वाले किसान है तथा दूसरे में बड़े भूस्वामी व खेतिहर मजदूर दोनों रहते हैं। एक में केवल हिन्दू वो भी पिछड़ी जाति के तथा दूसरा मुस्लिम बाहुल्य होने के साथ-साथ उसमें अनुसूचित जाति के लोग भी रहते हैं। हमारा ऐसा कोई दावा नहीं है कि ये दोनों गांव प्रातिनिधिक उदाहरण हैं बल्कि इलाके के अन्दर बहुत से दूसरे प्रकार के गांव भी हैं जहां पर संचार के साधन, खेती की हालत एवं दूसरे सामाजिक हालातों में यहां पर से थोड़ा बहुत ही अन्तर है। लेकिन जो यहां हो रहा है वही थोड़ा बहुत अन्तर के साथ दूसरी जगहों पर भी घटित हो रहा है।

(Economic & Political Weekly, 2 June से अनूदित)

I

1971 से 1981 तक की स्थिति

1970 में ये गांव गरीबी में डूबे हुए थे। कृषि उत्पादकता एवं आय दोनों ही बहुत निम्न थी। धान व जूट ही मुख्य फसलें थीं। जूट एक नकदी फसल होने के कारण यहां की अर्थव्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है जिस कारण यह क्षेत्र काफी पहले से ही इलाके की वाणिज्यिक गतिविधियों के साथ जुड़ा रहा है। फिर भी वेश्विक बाजार में आमतौर पर निम्न व घटती-बढ़ती कीमतों के कारण, जूट यहां की कृषि में वृद्धि का स्रोत नहीं बन सका। बाकी शेष सारी कृषि योग्य जमीन पर दालें व गेहूं ही बोया जाता थां

1970 के प्रारम्भिक दौर में कोसी नहर तंत्र के निर्माणाधीन होने व हरितक्रान्ति-सिंचित भूमि पर कृषि उत्पादकता में वृद्धि की सम्भावना के कारण पूर्णिया में एक आशा की किरण दिखी थी। परन्तु इन गांवां को नहर से सिंचाई की कोई सुविधा नहीं मिली बल्कि बाढ़ व जल-प्लावन की सम्भावना पैदा हो गयी। कृषि क्षेत्र की नयी खोजों का गांवों में प्रवेश धीमा ही रहा, जिसका प्रसारण अच्छे जल प्रबन्धन के अभाव में अवरुद्ध हो गया थां 1970 के दशक के मध्य में कुछ नलकूप लगने के साथ ही गेहूं की उन्नत किस्म की प्रजाति व रासायनिक खाद के आगमन से गेहूं की खेती का क्षेत्रफल बढ़ा। लेकिन यह केवल कुछ ही भू-स्वामियों तक सीमित रहा। धान की उन्नत किस्म की प्रजाति भी दशक के अन्त में ही उपलब्ध हुई जिसका कि सन 1981 में केवल मट्ठीभर कृषक ही उपयोग कर रहे थे क्योंकि उन्नत किस्म की प्रजातियां जल प्लावित जमीन में तो पैदा हो ही नहीं सकती हैं।

सन् 1970 में लगभग सारे ही सक्रिय

पुरुष खेती के काम में संलग्न थे जिसमें कि अनुमानतः जोतदारों व खेतिहर मजदूरों की संख्या बराबर थी। 40 प्रतिशत परिवार भूमिहीन थे, जोतें छोटी-छोटी थी तथा कम से कम दो तिहाई सम्भवतः इससे ज्यादा ही भू-स्वामी समुदाय छोटे या सीमान्त किसान थे। छोटे जोतदारों में बड़ी मात्रा किरायेदारों की थी। अनुमान है कि लगभग 15 प्रतिशत भूमि में बंटाई पर खेती होती थी। खेतिहर मजदूरों में बहुलांश दिहाड़ी पर थे। 1981 दोनों गांवों में एक वयस्क पुरुष दिहाड़ी मजदूर की प्रतिदिन रु. 1.50 तथा नाश्ता व एक समय का भोजन दिया जाता था। नकद मजदूरी बच्चों के लिए रु. 1.00 व औरतों के लिए रु. 1.25 थी। मजदूरी में कटाई के वक्त के अलावा कोई खास उतार-चढ़ाव नहीं था। कटाई के वक्त यह फसल के हिस्से के रूप में दी जाती थी। एक वयस्क की इस मजदूरी के कुल मूल्य जिसमें खाना भी शामिल है, को आज की कीमत पर यदि परिवर्तित किया जाये तो वह 1350 से 1550 ग्राम अनाज के बराबर, अर्थात 5000 कैलोरी प्रतिदिन होता है जो कि असाधारण रूप से कम है क्योंकि

1. हालांकि उपभोग में अनाज ही मुख्य था फिर भी दूसरी जरूरी आवश्यकताएं भी थी।

2. इस मजदूरी पर न केवल स्वयं मजदूर बल्कि उसके आश्रित भी निर्भर रहते थे।

3. साल भर में केवल 200-250 दिनों में ही कार्य उपलब्ध था तथा मजदूरी में वृद्धि भी नही हो रही थी।

सन 1981 में यदि कोई आय थी भी तो 1971 की तुलना में कम थी। सन् 1981 में 'पोखरिया' में मजदूरी का वास्तविक सूचकांक, खेतिहर मजदूरी के लिए कीमतों के सूचकांक (1971:100 के आधार) की तुलना में 76 व दुवैली बिस्वासपुर के लिए सूचकांक 82 था। यहां तक कि यदि केवल अनाजों की कीमतों से ही तुलना की जाये, जो कि कुल सूचकांकों की तुलना में गिरी थी, तब थी वास्तविक मजदूरी वही की वही थी।

मजदूरी की उक्त हालत के चलते इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि खेतिहर मजदूरों में मृत्यु दर ऊंची थी। 1971-81 के बीच जन्म के समय खेतिहर मजदूरों में जीवित बचने की सम्भावना 30 वर्ष से नीचे थी तथा बाल मृत्यु दर 300 प्रति हजार से अधिक थी (जो रोजर एवं आर रोजर, 1984)। परिणामतः जनसंख्या वृद्धि सापेक्षतया कम थी। इस दशक के दौरान यह पोखरिया में 6 प्रतिशत व दुबैली बिस्वासपुर में 20 प्रतिशत से नीचे थी। इनकी तुलना में कस्बा ब्लाक के ग्रामीण क्षेत्र की जनसंख्या वृद्धि 35 प्रतिशत तथा सम्पूर्ण ग्रामीण बिहार की 24 प्रतिशत थी (जनगणना के आंकड़े)।

खेतिहर दिहाड़ी मजदूरों के अलावा यहां पर पर्याप्त मात्रा में 'चरवाहें' (10 से 16 वर्ष के बच्चे व नौजवान जो कि विविध प्रकार के कामों में मुख्यतः घरेलू, खेती व पशुपालन की गतिविधियों में संलग्न थे) व ढेर सारे घरेलू नौकर भी थे। बच्चों को भी खेती के कामों के लिए दिहाड़ी पर रखा गया था। आर्थिक गतिविधियों में बच्चों की हिस्सेदारी अत्यधिक थी जबकि औरतों की हद से कम, जो कि केवल फसल कटाई के काम में व निम्न जाति के सदस्यों तक ही सीमित थी। 1971 से 1981 के बीच सम्भवतः खेती में महिलाओं की भागीदारी बढ़ी हो लेकिन वह फिर भी सीमित ही रही।

मुख्य रोजगार के बतौर गैर-कृषि गतिविधियों में सापेक्षतया बहुत थोड़े से ही परिवार संलग्न थे, वो भी केवल नौकरी व व्यापार में। यद्यपि गरीब परिवारों के सदस्य दूसरे अनेकों प्रकार के रोजगार में गौण रूप से संलग्न थे।। अधिकांशतः तो मौसमी रोजगार में जिनमें भवन निर्माण, खुदाई, मछली पालन, शादी ब्याहों में संगीत बजाना, पान बेचना, गाय की खाल निकालना व टोकरी बुनना आदि शामिल थे। औरतों के लिए घरेलू काम, खाद व प्रसंस्करण (चूड़ा बनाना), टोकरी बुनना एवं दाई के काम थे। कुछ ग्रामीणों ने आसपास के कस्बों में दैनिक मजदूरी करने का काम किया लेकिन इसमें दूरी व यातायात ठीक न होने से आवागमन में बाधा पड़ती थी। खेती के मौसम के बाद कुछ लोगों का मिट्टी क काम हेतु बाहर प्रवास पर होना बताया गया, जो कि मुख्यतः आसाम में था। गांव के कुछ पढ़े-लिखे लोग स्थायी रोजगार हेतु सरकारी व निजी क्षेत्र में रोजगार में थे (दो पश्चिमी एशिया में भी)।

आधारभूत सुविधायें खराब थी। खाते-पीते लोग मिट्टी की दीवार व छप्पर वाले घरों में रहते थे। गरीब लोग बांस व घास की झोपड़ियों में रहते थे। 70 के दशक के दौरान सड़क यातायात में थोड़ा बहुत सुधार हुआ लेकिन दो भी सार्वजनिक परिवहन के लिए अपर्याप्त था। 1981 में इनमें से किसी भी गांव में बिजली नहीं थी। सबसे नजदीक का सरकारी प्राथमिक विद्यालय 1.5 किमी दूर था, यद्यपि दुबैली बिस्वासपुर में एक मदरसा था। साक्षरता का प्रतिशत बढ़ रहा था। लेकिन तब भी काफी नीचे था। सन् 1981 में पाया गया कि पुरुषों में 20 प्रतिशत से ज्यादा और महिलाओं में 5 प्रतिशत से अधिक साक्षर नहीं थे। स्कूल जाने योग्य उम्र के केवल 30 प्रतिशत का ही स्कूल में नामांकन था, जिसमें दो लड़कों के पीछे एक लड़की का अनुपात था। जहां तक स्वास्थ्य सेवाओं का प्रश्न है वे मुख्यतः अप्रशिक्षित नीम-हकीमों द्वारा ही मुहैया करायी जाती थी। सबसे नजदीकी सरकारी प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, प्राइवेट डाक्टर व दवाई की दुकानें, कस्बा (ब्लाक मुख्यालय) में थे। गांव में हाट के दिनों में नीम हकीमों द्वारा आपरेशन भी किये जाते थे तथा वहां से दवाईयां भी खरीदी जाती थी।

जल प्रबन्धन के अभाव में कृषि क्षेत्र की उन्नति सीमित ही रही। स्थिति में सुधार हेतु भूमि के समतलीकरण, जल निकासी की व्यवस्था, खेतो में नालियां या नलकूप लगाने के लिए पर्याप्त मात्रा में पूंजी निवेश की जरूरत थी। लेकिन वहां पर पूंजी निवेश या प्रयोगशीलता की अनिच्छा पाई गयी, यद्यपि उन्नत किस्म के बीजों, विशेष रूप से गेहूं के बीज द्वारा यह देखा जा चुका था कि वहां की भूमि पर्याप्त उपजाऊ थी। 1981 में हमें दिखाई दिया कि जनसंख्या वृद्धि के कारण खेती योग्य जमीन पर दबाव बढ़ा है, परिणामस्वरूप पैदावार बढ़ाना एवं आय के दूसरे स्रोतों को तलाशना आवश्यक हो गया है। फिर भी औपचारिक शिक्षा काफी पिछड़ी थी और रोजगार का ढांचा भी विविधिकृत नहीं था। गांव के कुछ खाते-पीते परिवारों, जिनके पास आर्थिक क्षमता व ऊंचे सम्पर्क थे, केवल उन्हीं लोगों के लिए शिक्षा प्राप्त करने व गांव के बाहर रोजगार प्राप्त करने के मौके उपलब्ध थे। लेकिन भूमिहीनों, अकुशल व निरक्षर लोगों के लिए, कुत्सित ग्रामीण परिवेश में आर्थिक गतिशीलता के लिए बहुत ही कम या नहीं के बराबर मौके थे।

लगता है कि दुबैली बिस्वासपुर के हालातों को एच एस प्रसाद प्रधान (1987) व दूसरों

द्वारा 2 विकसित अर्द्ध सामन्ती मंडल ने भलीभांति अंगीकार किया है। सामाजिक व आर्थिक संगठनों का स्वरूप-असमान भूमि वितरण, किरायेदारी, दिहाड़ी मजदूरी व संबद्ध मजदूरी के मिश्रण तथा कर्जदारी.... के ऊपर निर्भर था। उपरोक्त तंत्र ने गांव की मेहनतकश आबादी की निर्भरता, सम्पन्न भूस्वामी वर्ग के ऊपर निश्चित कर दी थी, जिससे आय व अवसरों का अत्यधिक असमान वितरण बना रहा। सम्पन्न वर्ग की विकास व परिवर्तन में बहुत कम दिलचस्पी थी क्योंकि इससे उक्त प्रकार के वितरण के ढांचे पर निर्भरता व नियंत्रण खत्म हो जाता। जबकि छोटे जोतदारों के पास पूंजी निवेश के लिए साधन नहीं थे। परिणाम स्वरूप कृषि क्षेत्र में पूंजी निवेश से फायदा होने की बड़ी सम्भावना के बावजूद उद्यमशीलता की रफ्तार ढीली रही। पोखरिया (जो कि छोटा गांव था) में दुबैली बिस्वासपुर जैसे स्तर के भूस्वामी नहीं थे। लेकिन किरायेदारी व संबद्ध मजदूरी के मामलों में, यहां पर भी हालात वैसे ही थे, क्योंकि छोटी जोतदारों का छोटा गांव होने के कारण हय आसपास के बड़े गांवों पर निर्भर था, जहां कि इस तरह की प्रथायें हावी थी। परिणामस्वरूप दोनों गांव एक ही तरह की आर्थिक जड़ता की समस्या के शिकार थे।

II

1999 में परिवर्तन

अप्रैल 1999 में परिवर्तनों के संकेत स्पष्ट थे। दुबैली बिस्वासपुर में सड़क के किनारे दुकानों की पंक्तियां, जिसमें कि एक फार्मेसी, एक साईकिल मरम्मत की, एक चाय की दुकान व कुछ जनरल स्टोर शामिल है, विकसित हो गये थे। यह एक नयी चीज थी। यह इस बात का संकेत था कि यहां की अर्थव्यवस्था में, जिसमें कि पहले मुश्किल से मुद्रा का प्रचलन था, अब लोगों के पास खर्च करने को पैसा है। गांव को जाने वाली सड़क की हालत अभी भी खस्ता थी जो कि कई जगहों पर केवल जीप के जाने लायक ही थी। गत वर्ष आई बाढ़ के कारण पुलों की मरम्मत हो रही थी लेकिन साईकिल रिक्शा वाले इसका प्रयोग कर रहे थे।

बिजली व टेलीफोन लाइन गांव तक पहुंच गयी थी लेकिन समस्या सम्पूर्ण बिहार की भांति यहां भी वही हैयद्यपित भौतिक रूप से कनेक्शन लगा दिये गये हैं परन्तु बिजली आती नहीं है। पोखरिया गांव में बताया गया क जनवरी 1999 में लाइन जोड़ने के बाद केवल 10 दिनों तक ही बिजली उपलब्ध हो पायी। दुबैली बिस्वासपुर के एक भाग में ही बिजली के कनेक्शन है। फिर भी इन तारों का वे टेलीविजन एरियल (दोनों गांवों में टी वी देख गये जो कि बिजली के अभाव में बैटरी चालित थे) एवं संचार एरियलों का दिखना आश्चर्य की बात थी।

दूसरा दृश्यमान परिवर्तन मकानों में था। निम्न आय वर्ग के लोगों के लिए बने मकानों (मुख्यतया अपूर्ण) के रूप में सरकारी सहायता प्राप्त आवासीय योजनाओं का प्रभाव दिख रहा था। सामान्यतया ज्यादा संख्या में पक्के घर देखे गये। एक प्राथमिक विद्यालय ग्राम दुबैली में बना था जबकि पोखरिया में निर्माणाधीन था। एक महत्त्वपूर्ण प्रगति पेयजल के मामले में हुई थी। लगभग सारे घरों की पहुंच हैण्डपम्प तक हो गयी थी जो कि सरकार द्वारा या निजी रूप से लगे थे। बहुतों के पास स्वयं अपने हैण्डपम्प थे (कीमत रु. 1200/)।

कृषि की प्रगति

कृषि क्षेत्र में अवश्य ही कुछ प्रगति हुई थी। हालांकि अभी नहरों द्वारा सिंचित क्षेत्र नहीं था लेकिन ट्यूबवेल व पम्पसेटों की संख्या में सन् 1981 से तीन गुना वृद्धि हुई थी। परिणामस्वरूप अब कृषि योग्य भूमि का 50 प्रतिशत हिस्सा सींचा जा सकता था। अब मुख्य रूप से गेहूं की फसल ही 50 प्रतिशत के लगभग भूमि पर गर्मी की धान की फसल भी बोयी गयी थी। यह एक बड़ा परिवर्तन था क्योंकि पहले गर्मी के मौसम में थोड़ा बहुत ही फसल होती थी। लेकिन यह बात भ्रामक भी हो सकती है क्योंक धान की फसल गेहूं की खराब हो गयी फसल की जगह लगायी गयी थी तथा यह शिकायत आम थी कि गर्मी के मौसम में खेती की लागत काफी अधिक आती है।3 लेकिन तब भी नलकूप का मतलब है, सहायक व्यवस्था जो कि पहले नहीं थी। कुल मिलाकर यह अनुमान है कि फसलीय सघनता 160 से 180 के बीच थी, जो कि 1981 मे ं120 से 140 थी।

दूसरा मुख्य परिवर्तन फसलों की बुवाई संरचना में पाया गया, जूट व रवि की दलहनों की खेती में कमी पायी गयी जो गेहूं की खेती बढ़ने के कारण हुआ। जूट की शेष खेती बाढ़ के प्रकोप के कारण बची रही जहां अन्य फसलें उगाना सम्भव नहीं हो पा रहा था। इनसे इतर अन्य नयी फसलें नहीं दिखाई दीं। बिहार में दूसरी जगहों पर जहां सूरजमुखी व तिलहन के क्षेत्रफल में वृद्धि हुई है, वही इन गांवों में केवल ऐसे एक या दो प्लाट, केवल नमूने के तौर पर देखे गये तथा नई किस्मों की फसल के प्रति उदासीनता देखी गयी क्योंकि यह अत्यधिक जोखिमभरा माना जाता था। थोड़ी बहुत मात्रा में मक्के की खेती की जा रही थी, भदाई धान तो गायब ही हो चुका था। सन् 1981 की तरह ही किसानों की मुख्य चिन्ता थी, खाद व सिंचाई की लागत एवं बाढ़ का अत्यधिक खतरा, जिससे लागत के मुकाबले इच्छित लाभ में कमी होने का जोखिम था।

औसत उपज में भी बढ़ोत्तरी पाई गई। 1999 में गेहूं की सामान्य पैदावार लगभग 2000 किलो प्रति हेक्टेयर थी। उस समय कुछ ही किसान पैदावार की अधिकतम सीमा को छू पाते थे। धीरे-धीरे सिंचाई व रासायनिक खाद के प्रसारण से औसत पैदावार में निश्चित रूप से काफी बढ़ोत्तरी हुई। धान की पैदावार में सन् 1981 में 1200 से 2400 किलो प्रति हेक्टेयर व 1999 में खादों की प्रयुक्त मात्रानुसार 2000 से 3000 किलो प्रति हेक्टेयर बतायी गयी। ये सब सामान्य पैदावारों थी। वास्तव में 1998 में धान की अधिकांश फसल बाढ़ की चपेट में आ गयी थी तथा 1999 में गेहूं की खेती पर कीटों का आक्रमण हो गया था जिस कारण पैदावार काफी कम रही। ऊपर दिये गये आंकड़े इसी दौरान के हैं।

यह स्पष्ट है कि कृषि योग्य भूमि की उत्पादकता में काबिलेगौर वृद्धि हुई। फसलों व पैदावार का और अधिक विस्तृत लेखा-जोखा आवश्यक होगा ताकि ठीक-ठीक अनुमान लग सके। पैदावार में एक साल से दूसरे साल के बीच अत्यधिक परिवर्तनीयता का भी उतना ही महत्त्व है जितना कि उसके स्तर का। लेकिन तब भी इसकी तीव्रता के स्तर की गणना की जा सकती है। धान व गेहूं दोनों के उत्पादन में वृद्धि अनुमानतः 20 से 25 प्रतिशत के बीच तो पैदावार की बढ़ोत्तरी के कारण हुई शायद और 20 प्रतिशत वृद्धि खेती की सघनता के कारण हुई। इस प्रकार 18 सालों के दौरान

कुल वृद्धि 40 से 45 प्रतिशत हुई होगी। 4 लेकिन इस वृद्धि को इस दौरान हुई जनसंख्या वृद्धि के मुकाबले देखना होगा। जनगणना के आंकड़ों के अनुसार 1981 से 1991 के बीच दुबैली में 33 प्रतिशत व पोखरिया में 40 प्रतिशत की वृद्धि हुई। अनाज उत्पादन की उपरोक्त बढ़ोत्तरी का अधिकांश भाग तो जनसंख्या की 1981 से 1991 तक हुई वृद्धि के लिये पर्याप्त होगा। यदि अगले 8 सालों की जनसंख्या वृद्धि को भी जोड़ लें तो, यह मालूम होगा कि भूमि की उत्पादकता में वृद्धि के बावजूद प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन की मात्रा में वृद्धि नहीं हुई है।

किसानों की वास्तविक आय पर पड़ने वाला प्रभाव खेती की बढ़ती हुई लागत पर निर्भर करता है। खेती की लागत न केवल सिंचाई व खादों के दामों में वृद्धि के कारण बल्कि मजदूरी में हुई नाटकीय वृद्धि के कारण भी बढ़ गई। लेकिन इसके समानान्तर सन् 1981 से 'व्यापार की परिस्थितियों' में कृषि के पक्ष में दीर्घकालीन रुझान दिखता है। 1981-82 में 'व्यापार की परिस्थितियों' का सूचकांक 88.7 था जो कि 1996-97 में 106. 1 तक पहुंच गया था। लेकिन 'व्यापार की परिस्थितियों' में यह परिवर्तन भी मजदूरी व अन्य चीजों की लागत में हुई वृद्धि का मुकाबला करने में अपर्याप्त रहा। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है क खेती द्वारा होने वाली प्रति व्यक्ति आय में कमी आ गयी थी। अधिक से अधिक यह स्थिर रही।5 उपरोक्त नतीजे गांव के भूस्वामी सदस्यों के साथ हुई वार्ता से मेल खाते हैं जिनका कि सोचना है, उनकी हालत 80 के दशक के पूवार्ध की तुलना में खराब हो चुकी है।

श्रम बाजार

मजदूरी : कृषि के मिश्रित नतीजों से कोई आश्चर्य नहीं, परन्तु मजदूरी की दरें वास्तव में चौंकाने वाली रही। वास्तविक मूल्य पर 1970 के दशक में जहां ये दरें स्थिर या गिरती हुई थी, अब ऊपर की तरफ चढ़ चुकी हैं। जैसा पहले बताया गया है 1981 के दशक में जहां ये दरें स्थिर या गिरती हुई थीं, अब ऊपर की तरफ चढ़ चुकी हैं। जैसा पहले बताया गया है 1981 में प्रचलित दैनिक मजदूरी रु. 1.50 प्रतिदिन व साथ में एक समय का नाश्ता व भोजन था जो कि 1350 से 1550 ग्राम अनाज के समतुल्य था।6

सन् 1999 में मजदूरी रु. 30 अथवा रु. 20 के साथ एक किलो अनाज तक बढ़ चुकी थी। मजदूरी के हिस्से के रूप में एक वक्त खाना दिये जाने का रिवाज अब खत्म हो चुका है इसकी जगह अब अनाज दिया जा रहा है (कुछ रिपोर्टों से पता चला कि खाना अब यदा-कदा तब दिया जाता है जब दोपहर के समय मजदूरों को कार्यस्थल पर ही रोकना होता है)। मजदूरी की इन दरों में कुछ अन्तर भी पाया गया जो कि बताया गया कि 25 से रु. 35 के बीच थी। जबकि छप्पर बनाने के काम में 30 से 40 रुपये तक का भुगतान किया जाता था। पोखरिया गांव के चमारू महलदार ने हमें बताया कि कठिन मेहनत करने वाले की मजदूरी ज्यादा होती है। लेकिन यही मजदूरी पुरुषों के मामले में रु. 15 (साथ में वस्तु रूप में भुगतान) तक नीचे आ जाती है। औरतों की मजदूरी कम हैरोपाई व निराई के कामों में रु. 20 अथवा रु. 8 से 15 क व साथ में 1 किलो चावल एवं आधा किलो आटा (लेकिन महिला मजदूरों की संख्या अब भी कम थी)।

इस प्रकार दो तरह का रूपान्तरण आयापहला मजदूरी परिवर्तन की दर अत्यधिक थी जो कि मौसम के अनुसार और यहां तक कि अलग-अलग मजदूरों के हिसाब से बदलती रहती थी। दूसरी बात मजदूरी का स्तर वास्तविक अर्थों में तेजी से उठ चुका था। हमारे गांव के दौरे के समय चावल का दाम रु. 10.50 व आटे का रु. 7.50 प्रति किलो था7 इस प्रकार दैनिक मजदूरी चावल के रूप में 3 किलो व आटे के रूप में 4 किलो के आसपास बनती हैं 1981 के मुकाबले अनाज के रूप में मजदूरी का वास्तविक मूल्य कम से कम दो गुना हो गया। इसके अलावा मजदूरी का अधिकांश हिस्सा नकद दिया जाता था, जो कि अर्थव्यवस्था के मौद्रिकीकरण को दर्शाता है।

खेतिहर मजदूरी के मूल्य सूचकांक का प्रयोग करते हुए यदि गणना की जाये तो लगभग ऐसे ही परिणाम प्राप्त होते हैं। सन् 1991 में मजदूरी का मूल्य रु.3.40 से रु. 3.90 के बीच था। बिहार के लिए खेतिहर मजदूरी का सूचकांक अप्रैल 1999 में, 1981-100 के संशोधित आधार पर, अनुमानतः 387 बनता है।8 अप्रैल 1999 में, 1981 के मूल्य पर, मजदूरी रु. मजदूरी रु. 6.46 से रु. 9.04 बनती है जिससे सिद्ध होता है कि वास्तविक मूल्य पर यह दोगुनी हो गयी है (श्रेणी का निचला अंक 90 प्रतिशत व ऊपरी अंक 130 प्रतिशत की वृद्धि दिखाता है)।

दिलचस्प बात यह है कि वास्तविक मजदूरी में यह अत्यधिक उछाल मजदूरी के दूसरे महत्त्वपूर्ण भाग-फसल कटाई के हिस्से में नहीं दिखाई देता है। सत्तर के दशक में वे व अस्सी के प्रारम्भ में सामान्य परिस्थितियों में मजदूरों के लिए फलस का सातवां हिस्सा मजदूरी के रूप में होता था, जो कि आय का एक महत्त्वपूर्ण सहायक जरिया था जिससे कि सामान्य दैनिक मजदूरी के मुकाबले कहीं अधिक आय बनती थी। अब यह स्थिति बिल्कुल उल्टी हो गयी है। अंशतः तो इसलिए कि अग फसल कटाई का हिस्सा केवल नौवां ही रह गया हे। सन् 1981 में यह परिवर्तन एक शुरुआत भर थी जब सिंचित क्षेत्र के गेहूं की फसल का केवल नौंवा हिस्सा ही मजदूरी में दिया गया जबकि दूसरी सारी फसलों के मामले में सातवां हिस्सा था। अब सभी फसलों की कटाई में नौंवा हिस्सा ही दिया जाता है। यद्यपि पैदावार में वृद्धि हुई थी, सम्भवतः इसके कारण प्रतिदिन काटी जाने वाली फसल की मात्रा बढ़ चुकी थी।9 इस बढ़ी हुई मात्रा को समायोजित करने के लिए ही फसल का हिस्सा घटा दिया गया अतः वास्तविक मजदूरी में बहुत कम फर्क आया। बताया गया कि 1999 में धान की कटाई के समय, दैनिक समतुल्य मजदूरी 2.5 से 8 किलो के बीच अनाज के बराबर थी जिसकी मात्रा कार्य की तीव्रता व फसल की पैदावार पर निर्भर थी। यह बिल्कुल वैसी ही स्थिति है, जैसी 1971 में धान की कटाई के लिये बतायी गयी थी। दोनों ही वर्षो में मजदूरी का एक प्रारूपिक दाम 4 किलो अनाज होगा। धान की कटाई के वक्त की समतुल्य मजदूरी 2.5 किलो चावल 1999 से 25 रुपये के बराबर होते हैं जोकि सामान्य दैनिक मजदूरी से कम हैं। चार किलो गेहूं का मूल्य 30 रुपये अर्थात सामान्य दैनिक मजदूरी के लगभग बराबर होगा।10 जूट की कटाई में एक छोटे दिन के काम के बाद लगभग एक से दो किलो जूट प्राप्त होगा जो कि रु. 5 से 6 प्रति किलो दर से बेची जा सकती है। इस प्रकार यह मजदूरी

सामान्य दैनिक मजदूरी से कहीं कम तथा 1981 के मुकाबले बहुत कम बनती है।

पलायन की भूमिका

मजदूरी के पैटर्न में आये नाटकीय बदलाव की व्याख्या खेती के रुझान से नहीं की जा सकती है। इसके अलावा सबसे बड़ी घटना, खेतिहर मजदूरों की व छोटे जोतदारों की गांव से बाहर जाने वाली संख्या में बढ़ोत्तरी थी। इस बार हम जिन नौ घरों में गये, उनमें से सात घरों का कम से कम एक सदस्य अस्थायी रूप से काम तलाश में दिल्ली, पंजाब, हरियाणा या पश्चिमी उत्तर प्रदेश चला गया था। ये सभी 15 से 40 वर्ष की उम्र के पुरुष सदस्य थे। दो परिवार जिनमें गांव के बाहर पलायन नहीं था, ऐसे परिवार थे जिनमें इस आयु वर्ग के पुरुष नहीं थे। दुबैली बिस्वासपुर में तो अनुमान है कि कुल मिलाकर गरीब परिवारों के 75 प्रतिशत लोग बाहर थे जिसमें कि हिन्दू व मुसलमान दोनों शामिल है। पोखरिया गांव के बारे में अनुमान है कि 140 परिवारों के 200 सदस्य बाहर चले गये थे। हालांकि ये अनुमान काफी मोटे होंगे, फिर भी यह स्पष्ट है कि पलायन बड़े पैमाने पर हो रहा था। इससे गांवों में श्रमिकों की मांग व पूर्ति का संतुलन तेजी से बदल गया, मजदूरी में वृद्धि के पीछे यही मुख्य कारण था।

पुरुषों का यह पलायन अस्थायी व मौसमी था। पलायन साल भ, केवल मानसून अवधि को छोड़कर, कभी भी हो सकता था। जाड़ों के मौसम में तथा अप्रैल तक यह उच्च स्तर पर होता था। हमारे गांव के दौरे के दौरान ढेर सारे प्रवासी धार्मिक त्यौहारों के कारण वापस लौट आये थे, जिनसे हमें उनके काम के बारे में सीधे जानकारी प्राप्त हो सकी। जो काफी विविध प्रकार की थी। एक तो हरियाणा के शहरी क्षेत्र में निर्माण कार्यो से अभी-अभी लौटा था, जहां उसने चार महीने बिताये। दूसरा हरियाणा के गांवों में खेती के कार्यो में छः महीने (अक्टूबर से मार्च तक रहा) मोहम्मद इजराइल ने उत्तर प्रदेश में पत्थर तोड़ने का काम किया। पिछले साल उसने पंजाब में फसल कटाई का काम किया था। उसका लड़का उत्तर प्रदेश के एक होटल में काम कर चुका है। रुस्तम के दो लड़के जिनकी उम्र 20 से 18 वर्ष थी, पंजाब में फसल कटाई के लिए गये थे। वे दो साल से यही काम कर रहे थे। फतकान मोची का लड़का सन 1998 में पंजाब गेहूं कटाई में गया था, परन्तु 1999 में 20 किमी दूर पूर्णिया शहर में ही काम पा लिया था। चामरू महलदार के लड़के ने दिल्ली में एक राज मिस्त्री के पास प्रशिक्षण लिया था। किरू लाल बिस्वास ने लगातार छः महीने तक दिल्ली में निर्माण कार्यो में राज के रूप में काम किया, वह लगातार तेरह सालों से बाहर जा रहा था।

इसी तरह सभी का काम उजरती श्रम है। अधिकांश मामलों में बताया गया कि मजदूरी 60 से 65 रुपये प्रतिदिन थी। कुछ हाल के मामलों में यह 70 रुपये बतायी गयी। केवल किरू ही एकमात्र अपवाद था। जिसकी आय 85 रुपये प्रतिदिन थी, क्योंकि उसका काम एक राजमिस्त्री के रूप में कुशल श्रेणी का था। उत्तरी पश्चिमी भारत में, तब मजदूरी की दरें गांव के मुकाबले में दो गुनी या उससे ज्यादा थी।

लोगों के पलायन की अवधि एक माह से लेकर छह महीने तक थी। ऐसा बताया गया कि सभी लोगों को काम आसानी से मिला। ज्यादा से ज्यादा महीने में कुछ दिन बिना काम के रहना पड़ा। दिल्ली के आसपास तक आने-जाने का खर्च लगभग 350 रुपयये आता था। बहुत से प्रवासी लोगों अथवा उनके परिवार वालों ने बताया कि प्रतिमाह बचत 500 से 1000 रुपये पति कामदार तक की जाती थी या उतना पैसा घर भेजा जाता था। जो कि उनकी कुल कमाई का लगभग आधा होता था। रुस्तम के लड़कों ने दो महीने तक बाहर रहने के पश्चात हाल में ही 1000 रुपये भेजे थे। फतकान मोची का लड़का पंजाब में एक महीने तक काम करने के बाद 800 रुपये लेकर लौटा। किरू (जिसको ऊंची मजदूरी मिलती थी) दिल्ली में छह महीने काम करने के पश्चात 7000 से 8000 रुपये कमाकर लाया।

खेतिहर मजदूरों वाले परिवारों की कुल आय की तुलना में उक्त धनराशि अच्छी-खासी है। उदाहरण के लिए रुस्तम के दो लड़कों की आय जो कि हर साल चार महीने पंजाब में बिताते हैं, परिवार की कुल आय की आधी से थोड़ा ही कम है। यदि वे गांव के बाहर नहीं जाते तब भी वे गांव में कुछ कमा ही लेते, इसलिए उक्त उदाहरण में बताया गया प्रभाव थोड़ा बढ़कर हो सकता है। यदि इस तरह के योगदान को भी हिसाब में जोड़ा जाये, तो भी रुस्तम के लड़कों की पलायन के परिणामस्वरूप आय, गांव में परिवार की आय के 30 से 40 प्रतिशत के बीच तो बैठेगी ही।

हालांकि खेतिहर मजदूरों के परिवारों की आय में वृद्धि, ग्रामीण श्रम बाजार में दैनिक मजदूरी में तेज वृद्धि के फलस्वरूप हुई। प्रवासियों की ओर से आने वाली सीधी आमदनी इस ग्रामीण आय में इजाफा करती है। जैसाकि हमने देखा कि 1981 से 1999 के बीच गांव में मजदूरी दोगुनी हो चुकी है (केवल फसल के समय को छोड़कर) जबकि 1970 में यह स्थिर अथवा घट रही थी। यदि प्रवास के कारण आय पर पड़ने वाले प्रत्यक्ष प्रभाव व मजदूरी पर पड़ने वाले अप्रत्यक्ष प्रभावों को एक साथ जोड़ा जाये तो यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि खेतिहर मजदूर परिवारों की वास्तविक आय दो से तीन गुनी बढ़ गयी है। हालांकि यह इस बात पर निर्भर है कि परिवार में कितने वयस्क पुरुष सदस्य हैं।

उक्त मौसमी प्रवास वैसे कोई नया नहीं था। सन 1981 में भी कुछ मौसमी प्रवास देखा गया था। लेकिन उस समय प्रवास निम्न स्तर पर ही था। उस समय गैर-कृषि मौसम में काम न होने से गुजारे के लिए ही प्रवास करना पड़ता था, न कि ऊंची आय या बचत बढ़ाने के इरादे से। अब तो गांव में श्रम की मांग कैसी भी हो, पलायन तो हेता ही है।

रोजगार के बदलते सम्बन्ध

श्रम बाजार के इन परिवर्तनों से अभी तक गांव में रोजगार के पैटर्न में कोई बड़ा बदलाव आ गया हो ऐसा नहीं लगता है। फिर भी रोजगार में कुछ विविधीकरण दर्ज किया गया, विशेष रूप से व्यापार व परिवहन में। लेकिन खेती ही रोजगार का मुख्य साधन बनी हुई है। 1981 की तरह ही गैर-कृषि रोजगार व स्वरोजगार गांव में अभी भी गौण रोजगार ही बने हुए हैं।

लेकिन गांव के श्रम बाजार के रोजगार सम्बन्धों की प्रकृति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन पाये गये हैं। सबसे चौंकाने वाले परिवर्तन तो स्थायी श्रमिकों की संख्या में कमी है। वस्तुतः अब सारे खेतिहर मजदूर उजरती हैं, जिनको रोजाना भुगतान मिलता हैं सन 1981 में जो ढेर सारे 'हलवाहे' थे वे अब गायब हो चुके हैं। किसानों

का कहना है कि अब वे उनका खर्च उठाने में असमर्थ हैं। इजराइल जो कि आठ-नौ साल पहले तक हलवाहा था, का कहना है कि अब उसने पर्याप्त आमदनी न होने के कारण इसे छोड़ दिया है (यानी कि दूसरी जगहों पर आमदनी ज्यादा हो सकती थी)। यहां पर यह बात जोड़ी जानी चाहिए कि अब किराये पर ट्रैक्टर उचित प्रतिस्पर्धात्मक दरों पर उपलब्ध हैं। मांग व पूर्ति दोनों ही ओर से वैकल्पिक साधनों का उपलब्ध होना इसका कारण है। जहां तक स्थायी रूप से बंधित नौकरों (चरवाहों) के रूप में कार्यरत किशोरों का प्रश्न है, वे अब भी मौजूद हैं परन्तु संख्या में 1981 की तुलना में बहुत कम। इस बदलाव की व्याख्या करना थोड़ा मुश्किल है। एक सम्भावित व्याख्या तो यही है कि वे स्कूल जा रहे हैं, परन्तु खेतिहर परिवारों के बच्चों की स्कूल में नामांकन दर लगातार कम बनी हुई है। दूसरी व्याख्या यह कि गांव के श्रम बाजार में मांग ज्यादा होने से बच्चे भी कहीं न कहीं उजरत पर अच्छा काम पा जाते हैं। इससे शायद यह प्रतिबिम्बित होता है कि मध्यम किसानों के पास साधनों की कमी के चलते उनकी आमदनी स्थिर बनी रही जबकि खेतिहर मजदूरी वाले परिवारों की आय बढ़ चुकी है। यहां पर पुनः शायद मांग व पूर्ति के कारक काम कर रहे होंगे।

श्रम बाजार का एक पहलू जिसमें थोड़ा सा ही बदलाव दिखा वह है, महिला कामगारों की भागीदारी। 1981 में जैसाकि पहले दर्ज किया गया है, महिला कामगारों की भागीदारी बढ़ने के कुछ संकेत मिले थे। उस समय हमारा सोचना था कि यह किसी सामाजिक बदलाव का नहीं बल्कि अति जरूरतमंद होने का संकेते है तथा यह भी पाया गया कि जहां पर मजदूरी अधिकतम थी वहीं पर महिला कामगारों की भागीदारी न्यूनतम थी।

सन 1999 में प्रभावी पैटर्न के अनुसार महिला कामगार मुख्यतः फसल कटाई के समय ही मजदूरी करती थी वह भी केवल पति के साथ पारिवारिक समूह में। यहां बहुत निर्धन परिवारों में भी मुसलमान औरतें तो विरले ही रोपाई व निराई की मजदूरी करती पायी गयी। रुस्तम की भाभी कम आमदनी के कारण कुछ मुसीबत में थी फिर भी उसने फसल कटाई व उसके बाद वाले कामों के अलावा अन्य जगह मजदूरी नहीं की। हरिजन परिवारों की औरतें तो अधिकांश खेती के दूसरे कामों (रोपाई व निराई) में लगी हुई थी, लेकिन उन घरों की औरतें जिनके पास जमीन थी अथवा आय का दूसरा अच्छा स्रोत था इस काम में भी नहीं लगी थी। कुछ दूसरे प्रकार के काम जैसे टोकरी बुनना, खाद्य प्रसंस्करण, दुकानदारी आदि औरतों में अधिक पाये गये। दूसरे अधिकतर रोजगार लिंग आधारित हैं, उदाहरण के लिए, दाई का काम। लेकिन औरतें अधिकांशतः घर के दायरे में ही सीमित हैं, जैसे जानवरों की देखभाल, ईंधन इकट्ठा करना, खाना पकाना व बच्चें की देखभाल करना।

पुरुषों के गांव से बाहर जाने के कारण स्थानीय श्रम बाजार में महिलाओं के लिए काम मिलने के अच्छे अवसर है। ठीक इसी कारण भी शायद, कि परिवारों की आमदनी बढ़ने के कारण, महिलाओं को मजदूरी करने की जरूरत कम होती है। चूंकि श्रम की कुल मात्रा में महिला कामगारों की भागीदारी में बहुत कम परिवर्तन आया था। अतः उपरोक्त दोनों विरोधी शक्तियां या तो कमजोर है अथवा दोनों एक-दूसरे को निरस्त कर दे रही हैं।

भोजन एवं उपभोग

आमदनी में वृद्धि के कारण उपभोग में साफतौर पर वृद्धि हुई जैसा कि दुकानों की संख्या बढ़ने से दिखता है। दुबैली बिस्वासपुर में अब चार आटा चक्कियां हैं, इनमें से तीन तो 1981 के बाद लगी।

निम्न आय वर्ग के लोगों में उपभोग किये गये खाद्य पदार्थों की श्रेणी में पहले से विस्तार हुआ है। रुस्तम जो कि एक खेतिहर बटाईदारी पर काम करने वाले परिवार से है, ने पिछले हफ्ते में एक किलो साजन (हरी सब्जी), दो बंडल साग, एक किलो प्याज एवं दो किलो आलू खरीदा था जो कि हर रोज के लिए पर्याप्त सब्जी है। सन 1981 में खेतिहर परिवार औसतन मात्र दो में से एक ही दिन सब्जी खा पाते थे। इसके अतिरिक्त जैसा कि पूर्व में बताया गया कि निर्धन लोगों के भोजन में मोटा अनाज जैसे बाजरा अब मालूम होता है गायब ही हो गया है। विरमान लाल की पत्नी ने बताया कि पहले वे लोग मोटा अनाज (बाजरा) खाते थे लेकिन अब गेहूं, चावल, आलू व मक्का खाते हैं। हालांकि सभी प्रतिभागी हालातों में सुधार की बात से सहमत नहीं थे। बहुत लोगों ने तो उपभोग में सुधार के बजाय इसमें गुणात्मक गिरावट आना बताया। यह बात चौंकाने वाली थी। ऐसा मालूम होता है कि यह एक दूरगामी रुझान होने के बजाय लगातार फसलों का खराब होने के कारण ऐसा प्रतिबिम्बित हो रहा हो। कुछ महिला प्रतिभागियों ने भी आश्विन के महीने में केवल एक ही समय खाना बनाने की बात कही, जब कि साल के शेष समय सामान्य रूप से दो वक्त का खाना बनता था। स्पष्टतः उक्त नतीजों में सुधार/परिवर्तन भी अब भी पर्याप्त सम्भावना है।

खेतिहर मजदूरी वाले परिवारों की आमदनी में वृद्धि व जोतदार (किसान) की आय में आभासी स्थिरता ने साथ जुड़कर उपभोग के पैटर्न में पर्याप्त बदलाव उत्पन्न कर दिया है। यह आगे भी अध्ययन की मांग करता है। क्योंकि यही ग्राम्य अर्थव्यवस्था में भविष्य में घटित होने वाले परिवर्तनों की पूर्व पीठिका है।

III

परिवर्तन की प्रक्रिया

बाढ़ के उपरान्त : गांव के श्रम बाजार का रूपान्तरण क्यों हो गया? ग्रामवासी इसकी शुरुआत 1987 में आयी भयानक बाढ़ के कारण मानते हैं। उस समय भारी पैमाने की क्षति व अनेकों मौतें हो गयी थी। कृषि उत्पादन व मवेशी बुरी तरह प्रभावित हुए। चामरू महलदार का कहना है कि उस समय वे लोग यदि पलायन नहीं करते तो जिंदा नहीं बचते। उसने बताया कि खाद्य पदार्थों के दाम बढ़ गये थे। फलतः लोग पुराने रेट पर मजदूरी करने से इंकार करने लगे, भूस्वामियों द्वारा बढ़ी दर पर भुगतान नहीं किये जाने पर लोग बाहर पलायन कर गये। कुछ मात्रा में पलायन पहले से ही हो रहा था इसलिए पुराने सम्बन्धों और सम्पर्को का सहारा काम तलाशेन के लिए लिया जा सकता था। लेकिन इस मामले में पलायन ने अपनी पुरानी वाली भूमिका के विपरीत किसी प्रकार के सुरक्षा वाल्व का काम नहीं किया बल्कि इसने तो गांव के श्रम सम्बन्धों का ही रूपान्तरण कर दिया। पलायन करने वालों को गांव के बाहर रोजगार व ऊंची आमदनी प्राप्त होने लगी। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात, बात वाले वर्षो में

भारतीय अर्थव्यवस्था में लगातार वृद्धि जो पश्चिमी भारत में केन्द्रित थी, ने और अच्छे अवसर प्रदान किये जिनकी बदौलत पलायन करने वालों की बढ़ती संख्या को रोजगार मिलता रहा। यातायात व्यवस्था में सुधार ने भी इस प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका अवश्य ही निभायी। पक्की सड़क के कारण बाहरी दुनिया से सम्पर्क आसान हो गया। टेलीफोन भी गांव में आ ही चुका है। ग्राम्य अर्थव्यवस्था में नकदी के आगमन से उपभोग का स्वरूप भी बदला तथा बाहरी दुनिया से व्यापारिक (वाणिज्यिक) सम्बन्ध पैदा हो गये। इस प्रकार एक बार परिवर्तन की प्रक्रिया चल पड़ी तो उसको दूसरे कारकों ने दृढ़ता प्रदान की। सम्भवतः उपरोक्त बदलाव बाढ़ का संकट न होने के बावजूद भी, आ ही गये होते, लेकिन इउ झटके ने इस प्रक्रिया को शुरू करने में सहायता प्रदान की।

आय के वितरण पर प्रभाव

उक्त प्रक्रिया में अन्तनिर्हित प्रभावों ने गांव के सत समीकरण व आय के वितरण को बदल दिया है। सारा पलायन लगभग खेतिहर मजदूरों व छोटे किसानों तक सीमित है। यद्यपि ये गांव ऐसे नहीं है, जहां बड़े-बड़े भूस्वामी हों। बहुत सारी जोतें 2 से 3 हेक्टेअर के बीच है। दुबैली बिस्वासपुर में कम से कम चार हेक्टअर या उससे अधिक जोत वाले भूस्वामी ठीकठाक संख्या में हैं। स्थानीय मानदण्डों के हिसाब से इतनी बड़ी जोत तो काफी अच्छी मानी जाती हैइतनी जोत वाले परिवारों के लोग खेतिहर मजदूरी वाले लोगों के साथ कम से कम अकुशल श्रेणी की मजदूरी (जैसी कि पश्चिमी भारत में यहां के खेतिहर लोगों को मिलती है) करने को नहीं जाते हैं। क्योंकि इस प्रकार की उजरत से उनका किसी भी हालत में कोई फायदा नहीं होता। इसका कुल जमा नतीजा यह है कि रोजगार व आमदनी के नये अवसर केवल गांव के निम्न आय वर्ग के लोगों को प्राप्त हुए।

इस प्रकार हम देख चुके हैं कि खेती से होने वाली वास्तविक आय शायद स्थिर बनी हुई है। मध्यम व बड़े किसानों की आय तो गिर चुकी है, जबकि मजदूरों की वास्तविक आय तेजी से बड़ी है। अब ऊंची आय वर्ग के लोगों ने गांव से बाहर अधिक आय वाले रोजगार बाजार का फायदा उठाने की कोशिश तो की, लेकिन मालूम होता कि ये कोशिशें मुख्यतः बच्चों की शिक्षा में खर्च पर ही हो पाती है, जो कि कालान्तर में गांव को स्थायी रूप से छोड़कर बाहर चले जाते हैं। खेतिहर मजदूरों को इस प्रकार पलायन में वृद्धि से ऊंची आय वर्ग के लोगों की तुलना में समानुपातिक रूप से कहीं धिक प्राप्त हुआ। इस प्रकार शायक काफी हद तक, आय में असमानता कम हो चुकी है।11

श्रम बाजार की बदलती कार्यप्रणाली

सन 1971 व 1981 में मजदूरी निर्धारण प्रक्रिया की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या पोषण पर आधारित कार्य क्षमतानुसार मजदूरी के मॉडल द्वारा की गयी थी (जी. रोजर 1975)। चूंकि तब मजदूर बहुतायत में थे अतः ऐसा लगता है कि मजदूरी बाजार द्वारा नहीं, बल्कि मुख्यतः नियोजक द्वारा अपने कामगार के श्रम की क्षमतानुसार निर्धारित की जाती थी। लेकिन यह मामले का सरलीकरण है क्योंकि मजदूरी की दर तय करने व इसके भुगतान में बहुत से विशेष संस्थानिक पहलू भी शामिल होते हैं। तब भी मजदूरी की प्रथा के बहुत से घटक इसी दिशा की ओर संकेत करते हैंजैसे कि मजदूरों को उनकी मजदूरी का बड़ा हिस्सा सीधे भोजन के रूप में दिया जाता था एवं मजदूरी को धीरे-धीरे इस तरह समायोजित करने की प्रवृत्ति पायी जाती है, जिससे कि कुल मिलाकर औसतन आमदनी में कोई वृद्धि नहीं होती हैहां इसमें मांग में अल्पकालिक उतार-चढ़ाव से कोई फर्क नहीं पड़ता था। इस तंत्र का एक आवश्यक अंग था, कामगारों पर नियंत्रण। यह एक तरफ तो बंधनों के अनेकों रूपों व दूसरी तरफ मजदूरों की ऋणग्रस्तता के कारण बना रहता था। मजदूरों को फसल कटाई का जो हिस्सा मिलता था, वह उनकी आय का अतिरिक्त जरिया बनता था। लेकिन यह भूस्वामी की मर्जी पर निर्भर था क्योंकि काम उन्हीं परिवारों व मजदूरों को दिया जाता था जो विश्वसनीय हों।

सन 1999 में जिन सिद्धान्तों पर श्रम बाजार परिचालित हो रहा था, उनमें बुनियादी परिवर्तन आ चुके थे। मजदूरी, बाजार की शक्तियों के प्रभाव में अच्छी खासी मात्रा में बढ़ रही थी, जो कि 1981 के स्तर से काफी ऊंची थी। आहार व ऊर्जा लेकर ही बात की जाये तो, यह तब मुख्य कारक हो जाता है जब मजदूरी 1.5 किलो अनाज के समतुल्य हो जैसाकि 1981 में थी। लेकिन जब यह 3 किलो अनाज के समतुल्य हो, तो आहार ऊर्जा का मामला कम महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इसके अतिरिक्त पलायन के कारण मेहनतकशों को बाजार की शक्ति का लाभ मिला, क्योंकि इससे उनको वैकल्पिक उपाय प्राप्त हुए। बाजार की यह शक्ति भी महिलाओं के हिस्से में कम ही आयी। इसकी रोशनी में पुरुष व महिला कामगारों की मजदूरी के अन्तर को समझा जा सकता है। वस्तुतः सारे ही रोजगार के सम्बन्ध अब आकस्मिक प्रकार के हो चुके हैं। लेकिन शहरी श्रम बाजार के ठीक विपरीत, जहां मजदूरी के आकस्मिकीकरण व अनौपचारिकीकरण से जो फर्क पड़ता है वहीं, यहां गांव में आकस्मिक श्रम की वृद्धि आमदनी में बढ़ोत्तरी के अवसरों को दर्शाती है। स्थायी मजदूर के रूप में प्राप्त होने वलो लाभ व सुरक्षा का जो अभाव इस प्रकार पैदा होता है वह भी उक्त अवसरों से समायोजित हो जाता है। यह प्रक्रिया शायद सूदखोरों या भूस्वामियों की पारम्परिक सूदखोरी में हुई कमी के साथ जुड़ती है। हालांकि इस मामले में हमारे पास केवल कहने मात्र की सूचना है, परन्तु इसमें कोई दो राय नहीं कि पारम्परिक सूदखोरी तो बंधक मजदूर के साथ ही जुड़ी हुई थी।

सारतः स्थानीय भूस्वामियों का अपने मजदूरों व गांव के श्रम बाजार पर नियंत्रण कमजोर हो चुका है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आय के वितरण में सुधार ने बड़े भूस्वामियों की राजनीतिक ताकत भी कम करने में योगदान किया। कुल मिलाकर नतीजा यह निकला कि अर्ध सामन्ती ढांचा कमजोर हो चुका है। इस लेख के, इससे पहले वाले, मसौदे पर प्रधान प्रसाद द्वारा टिप्पणी करते हुए सुझाव दिया गया था कि भूस्वामियों की सापेक्ष स्थिति में ह्रास न केवल श्रम व बाजार के सम्बन्धों के चलते हुए आया है बल्कि ग्रामीण निर्धनों के बीच बढ़ते उग्रवाद से भी आया है जो कि हिंसा में वृद्धि के रूप में दिखाई देता है। यह स्थिति दक्षिण विहार के लिए तो ठीक लागू होती है। उत्तरी विहार में भी इसकी भूमिका हो सकती है। यद्यपि इन दोनों ही गांवों में हिंसा व संगठित उग्रवाद की कोई रिपोर्ट नहीं मिली।

पारम्परिक ढांचे के अवशेष

जबकि श्रम बाजार में तो तीव्र परिवर्तन आ चुका है लेकिन यही बात सभी सामाजिक व आर्थिक संस्थाओं के लिए सही नहीं है। जैसा कि पहले ही दर्ज किया हैमहिलाओं के श्रम बाजार की स्थिति में परिवर्तन की कमी भी देखी गयी। दूसरी पारम्परिक संस्थाओं में भी यथास्थिति बनी रही।

फसल का हिस्सा बतौर मजदूरी

फसल का हिस्सा बतौर मजदूरी देना, एक ऐसी प्रथा है जिसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। अर्ध-सामन्ती तंत्र में फसल की बंटाई ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इससे मजदूरों की परनिर्भरता दृढ़ हुई, लेकिन उत्पादन में उनका अधिकार भी स्थापित हुआ। उजरती मजदूरों की वार्षिक आमदनी में इसका अच्छा-खासा योगदान होात है। लेकिन पिछले बीस सालों के दौरान फसल बंटाई के हिस्से में कमी आ चुकी है (चूंकि फसल की पैदावार बढ़ गयी थी, अतः भूस्वामियों ने बंटाईदारी का हिस्सा कम कर दिया है)। फलस्वरूप मुद्रा रूप में मजदूरी पाने वालों के ठीक विपरीत, फसल के रूप में मजदूरी का वास्तविक मूल्य नहीं बढ़ पाया। अब बंटाईदारी का वास्तविक मूल्य भी थोड़े-बहुत अन्तर के साथ वही हो गया है जो दूसरे कामों के लिए नकदी मिलती है। लेकिन यह पलायन कर जाने वालों की तुलना में तो बहुत कम है। इस प्रकार फसल कटाई की बंटाईदारी, अब आमदनी का एक बड़ा हिस्सा नहीं रही। निस्सन्देह फसल कटाई से न केवल पुरुषों को बल्कि महिलाओं को भी बड़े पैमाने पर रोजगार उपलब्ध होता है, लेकिन यह वार्षिक आय का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा होने के बावजूद छोटा हिस्सा बनता है।

यह रोचक बात है कि श्रम बाजार के दूसरे पहलुओं पर बाजार की शक्तियों का प्रभुत्व होने के बावजूद गैर बाजारीय हिस्से का सिद्धान्त बना रहा। लेकिन वास्तविक तौर पर जो हो चुका है, वह बाजार की शक्तियों के बढ़ते हुए प्रभाव के अनुरूप ही है। कम से कम दैनिक उजरत नकद मजदूरी व बंटाईदारी पर मजदूरी के वास्तविक मूल्य के एक-दूसरे के बराबर हो जाने की यही ठीक व्याख्या है।

बंटाईदारी की प्रथा में यह सामान्य बात है कि मजदूरी का हिस्सा निश्चित व पहले से मालूम होता है, यद्यपि इसमें भी एक रोचक अपवाद है। 1971 से 1981 के बीच जूट की कटाई व छिलाई की मजदूरी, सातवें हिस्से से घटकर नौंवा या दसवां हिस्सा हो गयी थी। 1970 के दौरान जूट के दामों में गिरावट के मद्देनजर इसको समझा जा सकता है, चूंकि सेवायोजक श्रम बाजार को नियंत्रित करते थे अतः मजदूरी की लागत को कम करने के लिए वे मजदूरी का हिस्सा कम करने व अपना शुद्ध मुनाफा पूर्ववत रखने में सफल रहे। जूट की फसल कटाई में बंटाई का हिस्सा आज भी बदलता रहता है लेकिन अब इसका तंत्र बदल चुका है। अब जब दाम गिरते हैं तो बंटाई का हिस्सा सातवें तक बढ़ता है तथा दाम ऊंचे होने पर गिरता है। यह स्थिति सन 1981 की तुलना में बिल्कुल विपरीत है तथा स्पष्टतः बाजार की शक्तियों का झुकाव मेहनतकशों की तरफ दिखता है। अब जूट के अस्थिर बाजार में उतार-चढ़ाव का खामियाजा मजदूर को कम भुगतना पड़ता है, उसका वेतन ज्यादा स्थिर रहता है व जूट के दाम के मुकाबले कम झूलता है।

बंटाईदारी

मौद्रीकरण व बाजारीकरण की प्रक्रिया के बावजूद बंटाईदारी की प्रथा बनी हुई है! हमारे पास कोई विश्वसनीय आंकड़े तो नहीं है जिससे कि यह अन्दाजा लगाया जा सके के कुल मिलाकर इसमें कमी आयी या वृद्धि हुई। लेकिन जिन परिवारों का हमने इंटरव्यू लिया, उनमें कोई महत्त्वपूर्ण बदलाव नजर नहीं आया। नौ परिवारों में से 1981 में चार व 1999 में पांच परिवार कुछ जमीन पर बंटाईदारी कर रहे थे (एक परिवार ने बन्द कर दी थी, जबकि दो ने शुरू कर दी)। कुछ संकेत ऐसे मिले जिससे छोटे भूस्वामियों के पलायन कर जाने के कारण बंटाईदारी के लिए अधिक भूमि उपलब्ध हो गयी है।

किराये की प्रथा की निरन्तरता सामन्ती सम्बन्धों के लगातार बने होने का प्रमाण हो सकती है। यह सच है कि सामान्यतयाः यह किरायेदारी, फसल बंटाई तंत्र के तहत ही जारी रहती है। अर्थात मजदूरी को छोड़कर शेष लागत व कुल पैदावार भूस्वामी व किरायेदार द्वारा आधी-आधी बांटी जाती है, लेकिन किरायेदारी का यह स्वरूप भारत के दूसरे हिस्सों में भी बहु प्रचलित है जहां अर्ध-सामन्ती व्यवस्था कतई नहीं है तथा इसके अस्तित्व को दूसरे तरीकों (अवधारणाओं) से आसानी से समझा जा सकता है (नरेश शर्मा एवं जीन ड्रेज 1998)। हमने जिन मामलों का अध्ययन किया उनमें हमें, भूस्वामी पर, दूसरे रूपों में निर्भरता की भी कोई स्पष्ट कड़ी नजर नहीं आयी जैसे कि स्थायी मजदूर या ऋणग्रस्तता।

अनुष्ठान एवं जजमानी

आर्थिक संगठन के पारम्परिक तंत्र का एक चौंकाने वाला अवशेष एक प्रकार के जजमानी भुगतान में देखा गया। पोखरिया गांव में, गांव के 'नाई' को भी साल भर में एक कट्टा (आठ किलो) धान प्रति वयस्क विवाहित व्यक्ति के हिसाब से दिया जाता है। जिनके पास जमीन नहीं होती है, वे बदले में तीन दिन काम करते हैं। यहां तक कि पलायन करके गये व्यक्ति जो कि साल में कई महीने बाहर रहते हैं, उनको भी इतना ही भुगतान करना पड़ता है। गांव की दाई को भी वस्तु रूप में ही भुगतान करना पड़ता है। (लड़का होने प र 1 किलो चावल, लड़की होने पर आधा किलो चावल साथ ही तकरीबन सात दिनों की प्रसूती के दौरान आधा किलो प्रति दिन के हिसाब से)। इस तरह की व्यवस्थाओं का बने रहना यह स्मरण कराता है कि पारम्परिक व्यवस्थाओं को खत्म करने के लिए मात्र अकेले बाजार की शक्तियां ही पर्याप्त नहीं होती, जब तक कि ये व्यवस्थाएं सामाजिक रूप से कार्यरत हैं तथा लोगों की इसमें श्रद्धा बनी हुई है।

VI

महत्त्वपूर्ण चिरस्थायी समस्याएं

आय में वृद्धि तो स्वागतयोग्य है परन्तु फिर भी ढेर सारी विकास की समस्यायें हल नहीं हो सकीं कुछ तो गांव का दौरा भर करने से स्पष्ट नजर आती हैं जैसे स्वास्थ्य व शिक्षा, लिंग भेद व आधारभूत संरचना की अपर्याप्तता।

उच्च मृत्युदर व स्वास्थ्य तंत्र

सन 1981 में स्थिति का एक आश्चर्यजनक पहलू था स्वास्थ्य सेवाओं की भयावह स्थिति व ऊंची मृत्यु दर। तदन्तर आहार

में सुधार होने के चलते हुए इस पर कुछ प्रभाव तो पड़ा है, जैसा कि जनगणना के आंकड़ों से स्पष्ट है कि मृत्युदर में कमी आयी है। जैसा कि पहले दर्ज किया गया है पोखरिया गांव की जनसंख्या में वृद्धि 1981 से 1991 तक 40 पतिशत से ज्यादा व दुबैली बिस्वासपुर की 33 प्रतिशत से ज्यादा थी, जो कि 1970 के दशक की वृद्धि दर दुबैली में 20 प्रतिशत से कम व पोखरिया में मात्र 6 प्रतिशत थी।12

फिर भी मृत्युदर ऊंची थी। लगभग सभी खेतिहर मजदूरों के परिवारों में पाया गया कि तीन या चार बच्चों की। पलायन के कारण मालूम होता है कि यह खतरा और बढ़ गया है। मोहम्मद इजरायल का लड़का उत्तरप्रदेश में दुर्घटना में मारा गया था। रुस्तम का भाई पांच साल पहले हरियाणा में काम करते हुए मारा गया था। बाहर काम पर गये दूसरे बहुत सारे लोगों के दुर्घटना में मौत की रिपोर्ट भी हमें मिली (जन ब्री मैन एवं अरविन्द दास 2000)13। लोग लगातार स्वास्थ्य सेवाओं की बेहद बुरी हालत को महसूस करते रहे हैं। लोग अपनी बातों में व रिपोर्टो में जन स्वास्थ्य सेवाओं के बारे में कुछ नहीं बताते हैं। मालूम होता है कि इलाज की एकमात्र सुविधा एक डाक्टर से ही उपलब्ध होती थी जो कि कस्बा (ब्लाक मुख्यालय) से रोजाना स्थानीय मार्केट में आता था तथा एक दवा की दुकान भी चलाता था।

बाल मजदूरी एवं अशिक्षा

खेतिहर मजदूरों की आय में वृद्धि से उनके बच्चों को शिक्षा ग्रहण करने में कोई फायदा नहीं हो पाया, बावजूद इसके कि दुबैली बिस्वासपुर में एक प्राइमरी स्कूल मौजूद है। रूस्तम के नौ बच्चों में से केवल एक लड़का साक्षर है। उसका स्पष्टीकरण है कि, ''यह एक खेतिहर टोला है, यहां के बच्चे स्कूल नहीं जाते हैं।'' खेतिहर मजदूरों में यह अक्सर देखा गया है कि सबसे बड़े लड़के को तो कुछ साल स्कूल भेजा जाता है, छोटों को इससे कम लेकिन लड़कियों को तो कभी स्कूल भेजा ही नहीं जाता है। इसके विपरीत उच्चतर आय वर्ग के भूस्वामी लोगों द्वारा बच्चों की शिक्षा में काफी पैसा खर्च किया जाता है। किशोर उम्र के बच्चे तो अधिकतर पढ़ाई के लिए बाहर रहते हैं।

पहले तो स्कूल में कम नामांकन का आंशिक कारण घरेलू नौकर के रूप में बाल मजदूरों का होना कहा जा सकता था, लेकिन अब तो इसमें तेजी से गिरावट आयी है। यह सम्भव है कि पलायन के कारण बाल श्रमिकों को स्थानीय श्रम बाजार में जगह मिल जाती हो। हमारे पास इसके सीधे प्रमाण नहीं है। लेकिनन इससे किसी भी हालत में लड़कियों का स्कूल में नामांकन की भयानक स्थिति की व्याख्या नहीं की जा सकती है। कुल मिलाकर 1991 में पोखरिया में महिला साक्षरता दर शून्य दर्ज की गयी थी तथा दुबैली बिस्वासपुर में 6 प्रतिशत (इसकी तुलना में पुरुषों के मामले में यह दर क्रमशः 16 व 22 प्रतिशत थी)।

महिला मुखिया वाले परिवार व औरतों का बहिष्करण

श्रम बाजार में बहिष्करण के कारण इन गांवों में विशेष रूप से विधवा औरतों का मामला मार्मिक बन जाता है जैसा कि भारत में दूसरी जगहों पर भी होता है। यहां पर रुस्तम की भाभी का मामला विचारणीय है। उसके पति की मृत्यु 1981 में हो गयी थी तब से वह अपनी लड़की के साथ एक अलग घर में रहती है। उसकी दशा खराब होने के बावजूद, उसका एकमात्र रोजगार पारिवारिक सदस्यों के साथ फसल कटाई व सम्बन्धित कार्यो तक ही सीमित है। सामाजिक समर्थन है, (दूसरे लोग इसकी थोड़ी सहायता कर देते हैं) लेकिन कोई भी संस्थागत उपाय उसको सुरक्षा प्रदान करने के लिए उपलब्ध नहीं हैं। गांव के बाहर महिलाओं के सम्पर्कों के प्रतिरूप व अवसरों में थोड़ा बहुत बदलाव तो आया है। पहले मुख्यतः पारिवारिक मामले ही औरतों के गांव से बाहर जाने का कारण बनते थे जैसे मायके जाना या शादी-ब्याह, स्वास्थ्य सम्बन्धी मामले या दाह संस्कार आदि में भाग लेना। अभी हाल में यह देखा जा रहा है कि कुछ महिलायें समूह में बाजार सब्जी खरीदने जाती हैं। बाकी सारी खरीददारी, यहां तक कि साड़ी भी, आदमी ही खरीदते हैं।

अच्छे मौसम के बावजूद कृषि उत्पादन का सामान्य से कम होना आश्चर्यजनक है। भूजल स्तर ऊंचा है, काफी सारी जमीन प र तो तीन-तीन फसलें पैदा की जा सकती हैं। लेकिन पैदावार में बहुत उतार-चढ़ाव होता है मुख्यतः अपर्याप्त जल नियंत्रण के कारण। किसान ऊंची पैदावार वाले बीजों में पैसा लगाने में अनिच्छुक रहते हैं, जिसमें कि ऊंची पैदावार लेने के लिए लगातार खाद व पानी की व्यवस्था करनी पड़ती है, साथ ही बाढ़ व बीमारी के कारण इसमें अत्यधिक जोखिम है। जब गांव में लोगों से व किसानों से पूछा गया कि उनको सबसे ज्यादा किस चीज की जरूरत है तो **उनी तीन मुख्य मांगों में से एक थी फसल का बीमा, दूसरी मांग बिजली व तीसरी अच्छे संचार के साधनों की व्यवस्था।**

अधिसंख्य किसानों में खेती के नये ढंग अपनाने में अनिच्छा कोई अतार्किक बात नहीं थी। जिन्होंने नई फसलों व खाद में पैसा लगाया उनको बाढ़ व सूखे के कारण, अक्सर ही बहुत कम मुनाफा हुआ। केवल जल नियंत्रण, भूमि समतलीकरण, बंध बनाना व जल निकासी में अत्यधिक पूंजी निवेश से ही इस समस्या से छुटकारा पाया जा सकत है। यह ऐसा मामला तो है नहीं जिसको कि कोई व्यक्तिगत रूप से कर सके। इसके लिए पर्याप्त सामाजिक हस्तक्षेप की आवश्यकता हो।

उपसंहार

0.75 अमरीकी डालर की दैनिक मजदूरी पाने वाले इन गांवों के खेतिहर मजदूर किसी भी पैमाने से अत्यधिक गरीब हैं। विश्व बैंक प्रतिदिन प्रति व्यक्ति (प्रति मजदूर नहीं!) एक अमेरिकी डालर की आय को बेहद गरीबी की सीमा मानता है जबकि ये परिवार तो इस स्तर से कहीं नीचे हैं। चार सदस्यों के एक परिवार के लिए लगभग तीन किलो अनाज तो केवल उनकी कैलोरी की मूल आवश्यकता के लिए पर्याप्त होता है, न कि अन्य जरूरतों के लिए। यहां पर लोग बाढ़ से संकटग्रस्त रहते हैं, स्वास्थ्य की विपरीत हालातों में जीते हैं, आवास नितान्त ही अपर्याप्त है और बच्चे बिना शिक्ष्ज्ञा के रह जाते हैं। इन्हें अभी एक लम्बा रास्ता तय करना है। लेकिन तब भी इन गांवों की उन्नति कुछ तो हुई है। वास्तविक आय दुगुनी होने से उनकी जिन्दगी में फर्क तो आ ही सकता है, जो कि मात्र जिन्दा रहने की परिस्थितियों में रह रहे हो और कुछ लोगों के लिए तो इतना ही नहीं, जिन्दगी को सम्मानपूर्वक ढंग से जीने का मौका भी मिल जाता है।

अभी भी इस बदलाव का स्थानीय विकास से ज्यादा लेना-देना नहीं हैं इसके बजाय यह उत्तरी भारत में फैले एक एकीकृत बाजार

(शेष पृष्ठ 71 पर)

वास्तविक पूंजीवाद की असलियत

एकाधिकारी पूंजी, विपणन व सूचना राजमार्ग

माइकल डॉसन और **जॉन बेलेमी फॉस्टर**

हमारे समय के प्रमुख प्रौद्योगिकीय मिथकों में एक यह है कि संगठित पूंजीवाद का समूचा तंत्र एक नये ''इलेक्ट्रानिक गणराज्य'' द्वारा विस्थापित हो रहा है। औद्योगिक क्रान्ति के समय से (बल्कि और पहले से) चले आ रहे इस पुराने तंत्र का टूटना अपरिहार्य है; जैसाकि न्यूट गिंग्रिच घोषित करते हैं :

''ज्यादा से ज्यादा लोग कारपोरेट ढांचों और पदानुक्रमों से बाहर निकलकर हर उस जगह पर काम करने जा रहे हैं जो सूचना क्रान्ति द्वारा निर्मित की जा रही है। औद्योगिक क्रान्ति लोगों को भारी-भरकम सामाजिक संस्थानों (बड़े-बड़े निगमों, संघों व सरकारों) की ओर ले गयी थी, लेकिन सूचना क्रान्ति इन भीमकाय संगठनों को तोड़ते हुए हमें वापस उस मुकाम पर ले जा रही है जो बहुत कुछ तॉकविल द्वारा चिह्नित 1830 के दशक के अमरीका जैसी है।[1]

नवदक्षिणपंथियों के लिए इसका अर्थ इससे कम कुछ नहीं है कि यह 'छोटे उद्यमियों की दुनिया' के रूप में पूंजीवाद का पुनर्जन्म है, जहां कि प्रौद्योगिकी ने पूर्ण प्रतिस्पर्धा की वास्ते आदर्श भूमि तैयार करने के लिए सारी सामाजिक बाधाओं को नष्ट कर दिया है। नवदक्षिणपंथी विद्वान जार्ज गिल्डर के अनुसार, नयी सूचना प्रौद्योगिकी *''सभी प्रकार के पदानुक्रमों एकाधिपत्यों, औद्योगिक नौकरशाही एवं शीर्ष से नियंत्रित होने वाली हर प्रकार की प्रणालियों के प्रति शत्रुवत है। जिस तरह से मेधा एवं नियंत्रण सुपर कम्प्यूटरों से व्यक्तिगत कम्प्यूटरों की ओर, केन्द्रीकृत डाटाबेस से डेस्कटाप लायब्रेरियों की ओर, केन्द्रीय नियंत्रण कक्ष से संचार यंत्रों के एक नये विन्यास की ओर एवं कुछ राष्ट्रीय प्रसारण तंत्रों से समस्त भूमण्डल के लाखों कम्प्यूटर-प्रोग्रामों की ओर जा रहे हैं, उसी तरह आर्थिक सत्ता समष्टिगत संस्थानों से व्यष्टि की ओर खिसक रही है।*[2]

काफी हद तक इस प्रकार की बातें कारपोरेट जगत में ध्वनित हो रही हैं। हालांकि वहां छोटे उद्यमियों को कोई महत्त्व नहीं दिया जा रहा है (यूं भी समूचे विश्व पर निगमों के आधिपत्य के रहते यह कल्पना करना ही कठिन है), लेकिन माइक्रोसाफ्ट चेयरमैन बिल गेट्स ने इसे ''घर्षण रहित पूंजीवाद'' (Friction Free Capitalism) का नाम दिया हैपूंजीवाद का एक नया चरण जिसमें परिपूर्ण सूचना बाजार की पूर्णता का आधार बनती है।[3]

केवल प्रगतिशील लोग ही नहीं बल्कि रैडिकल कहे जाने वाले लोग भी इस प्रकार के कल्पना जगत में फंसे जा रहे हैं। केवल यही नहीं कि एक ''उत्तर-फोर्ड'', ''उत्तर आधुनिक'' युग में कम्प्यूटर और सूचना प्रौद्योगिकी में क्रान्ति के परिणामस्वरूप ''संगठित पूंजीवाद का खात्मा'' बार-बार अपरिहार्य नजर आ रहा है बल्कि प्रायः इस नये साइबरस्पेस प्रौद्योगिकी के एक स्वतःउत्पन्न उत्पाद के रूप में इलेक्ट्रानिक जनवाद का एक नया युग बारम्बार दृष्टिगत हो रहा है। प्रायः यह दावा किया जाता है कि इंटरनेट पर ''समता'' का राज्य होगा, जो कि इतना व्यापक व अराजक है कि उस पर नियंत्रण सम्भव नहीं।[4]

मात्र कम्प्यूटरीकृत या डिजिटल प्रौद्योगिकी ने ही इस दिवास्वप्न का पोषण नहीं किया है बल्कि इससे कहीं ज्यादा वह इंटरनेट के चमत्कारिक विकास और भावी राजमार्ग की सम्भावनाओं से पोषित हो रहा है। इनमें से पहला, जो कि पिछले कुछ ही वर्षों में विश्वव्यापी जाल ('वर्ल्डवाइड वेब') के उदय के साथ ही द्रुत गति से विकसित हुआ, अब चिरपरिचित हो चुका है। और दूसरा, तीन सूचना यंत्रोंपर्सनल कम्प्यूटर, टेलीफोन व टेलीविजन जो एक एकल डिजिटल नेटवर्क से आबद्ध होते हैं एवं घरों, विद्यालयों और कार्यस्थलों से तार द्वारा जुड़े होते हैंके अभिसरण पर आधारित दोनों दिशाओं में सूचनाओं की सतत आवाजाही वाले (उभयमार्गीय) विशालकाय विस्तृत तंत्र की ओर इंगित करता है। कारोबारी दुनिया सरकारी योजनाकारों की मंशा तो यह है कि अन्ततोगत्वा पर्सनल कम्पयूटर एक ऐसे उभयमार्गीय तंत्र से जुड़ जायेंगे जो वर्तमान इंटरनेट से काफी आगे निकल जायेगा। मंशा तो यह भी है कि टेलीविजन सेटों को (हालांकि अभी दिल्ली बहुत दूर है) सेट-टाप बाक्सों (विशिष्ट कम्प्यूटर सर्किटों) से जोड़कर उन्हें सतत उभयमार्गी बना दिया जायेगा। हालांकि अधिकांश विश्लेषकों की दृष्टि में, आधारभूत सूचना-यंत्रों के अभिसरण के इस विस्तृत रूप में सूचना राजमार्ग अभी दशकों दूर है।[5]

इस नयी प्रणाली के सामान्य प्रौद्योगिकीय स्वरूप के बारे में कोई संदेह नहीं है, यद्यपि सूचना तंत्र द्वारा आदान-प्रदान के मार्ग परिवर्तित हो सकते हैं। न ही किसी को नयी प्रौद्योगिकी की इस सम्भावना के बारे में संशय है कि वह मानवीय सूचना के क्षेत्र में क्रान्ति ला देगा। परन्तु कहीं से भी यह मालूम नहीं हो पाता कि इस प्रणाली से किन उद्देश्यों की पूर्ति होगी अथवा वे कौन लोग है जिन्हें इसका लाभ पहुंचेगा। सूचना-जगत का पूरा इतिहास इस धारणा के विरुद्ध हमें सचेत कर रहा है कि प्रौद्योगिकी निर्धारक तत्व होगी। दरअसल, कुछ राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था तथा इसके इर्द-गिर्द होने वाले संघर्षों पर ही निर्भर करेगा।

वास्तव में, इतिहास ने यह सिद्ध कर

'कैपिटलिज़्म ऐण्ड दि इन्फार्मेशन एज' पुस्तक में प्रकाशित 'वर्चुअल कैपिटलिज़्म' लेख का अनुवाद

दिया है कि संचार क्षेत्र में होने वाली हर प्रौद्योगिकीय क्रान्ति, चाहे उसके भीतर जनवादीकरण के लिए जितनी भी सम्भावनाएं छुपी रही हों, जब अपने समय की सामाजिक-आर्थिक शक्तियों के अधीन रूपायित होती है तो वह सूचना जगत में नये आधिपत्यों के विकास में ही मददगार होती है। यही बात फिर से दुहरायी जायेगी या नहीं यह स्वयं प्रौद्योगिकी की प्रकृति पर ही निर्भर नहीं करेगा। यह इस बात पर निर्भर करेगा कि जनता की शक्तियां किस हद तक संकल्पबद्ध हैं और उनके संगठित होने का स्तर क्या है। राबर्ट मैकेज्नी ने लिखा है कि "भावी (सूचना) कल्पनालोक के समर्थक इस मायने में सही हैं कि इन नयी प्रौद्योगिकियों की एक विश्व ऐतिहासिक सामर्थ्य है, जो एक प्रकार से, प्रिण्टिंग प्रेस या औद्योगिक क्रान्ति से भिन्न नहीं है। लेकिन उस हद तक यह सही नहीं है जहां तक प्रौद्योगिकी के दीवानों का विश्वास है। ऐसे विचारों के पक्ष में कोई भी साक्ष्य उपस्थित नहीं हैं कि ये नयी प्रौद्योगिकियां पूंजी के तर्क व शक्ति को लांघ जायेगी।"[6]

लेकिन यदि जनवादी शक्तियों को विजयी होना है तो यह प्रौद्योगिकी पर नियंत्रण के लिए होने वाले युद्ध से अधिक व्यापक होगा। क्योंकि इसमें संचार जगत के दायरे से बाहर सामाजिक नियंत्रण के सम्बन्ध शामिल हैं। इन सम्बन्धों को समझने-परखने के लिए यह आवश्यक है कि वृहत्तर राजनीतिक-आर्थिक तंत्र एवं नवोदित सूचना-तंत्र के साथ इसके जुड़ाव की जांच-पड़ताल की जाये।

एकाधिकारी पूंजी और सार्वभौम बाजार

गिंग्रिच और गिल्डर जैसे दक्षिणपंथी लोकरंजकतावादी एक मायने में सही हैंअमेरिका की अर्थव्यवस्था (और उत्तरोत्तर पूरा विश्व हो) अपेक्षाकृत थोड़े से कारपोरेशनों द्वारा नियंत्रित है। लेकिन ग्रिंगिच और गिल्डर जहां इसे सूचना-अर्थव्यवस्था की प्रौद्योगिकी द्वारा धकेल दी गयी पुरानी सत्ता को नकारने के लिए स्वीकार करते हैं वहीं पर एक अधिक तर्कसंगत दृष्टिकोण (उद्यमों के अपने दृष्टिकोण से भी; जैसाकि हम देखेंगे) यह समझ पाने में सफल होता है कि किस प्रकार ये वर्चस्वशाली आर्थिक उद्यम, और भी दौलत और ताकत इकट्ठा करने में, आजकल नयी प्रौद्योगिकी को इस्तेमाल करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं, जिसे वे काफी हद तक नियंत्रित करते हैं।

यहां पर एकाधिकारी पूंजी और आधुनिक विपणन (marketing) की प्रकृति व तर्क का संक्षिप्त परीक्षण आवश्यक है। आज की उन्नत पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाएं अत्यन्त ध्रुवीकृत वर्ग-प्रणालियां ही हैं। अमेरिका में कुल वित्तीय सम्पत्ति का 94 पतिशत ऊपर की 20 प्रतिशत आबादी के कब्जे में है, जबकि कुल वित्तीय सम्पत्ति का केवल 6 प्रतिशत हिस्सा नीचे के 80 प्रतिशत लोगों के पास है। असलियत में कुल सम्पत्ति का 48 प्रतिशत लोगों की कुल सम्पत्ति का आठ गुना है। धनकुबेरों के पक्ष में सम्पत्ति की इस बढ़ोत्तरी के मुख्य तंत्र कारपोरेशन ही हैं। अमेरिका के शीर्ष के 200 मैन्युफैक्चरिंग कारपोरेशन समग्र मैन्युफैक्चरिंग परिसम्पत्तियों के 60 प्रतिशत से अधिक पर अपना आधिपत्य रखते हैं जबकि शीर्ष के 710 कारपोरेशन (अमेरिकी मैन्युफैक्चरिंग कारपोरेशनों के 1 प्रतिशत का चौथाई) पूरे 80 प्रतिशत मैन्युफैक्चरिंग परिसम्पत्तियों पर आधिपत्य रखते हैं। विगत शताब्दी के अन्तिम दशक के प्रारम्भ में अमेरिकी अर्थव्यवस्था में 600 शीर्ष के कारपोरेशनों ने कुल बिक्री आमदनी का 80 प्रतिशत से ज्यादा ही प्राप्त किया।

इस प्रकार का संकेन्द्रण कोई एक राष्ट्रीय परिघटना मात्र नहीं है। अब दुनिया के विशालतम 300 कारपोरेशनों की "प्रत्यक्ष विदेशी निवेश" (एफ.डी.आई.) के 70 प्रतिशत में भागीदारी है और विश्व पूंजी परिसम्पत्तियों के 25 प्रशित हिस्से पर कब्जा है। अमेरिका में मुट्ठीभर फर्में अब विशाल मीडिया पर प्रभुत्व रखती हैं, और ठीक यही बात दूरसंचार के लिए भी सही हैऔर ये पूरी दुनिया में विस्तारित हो रही हैं। जैसाकि टी सी आई के मुख्य कार्यकारी अधिकारी जान मैलोने थोड़ी सी अतिशयोक्ति के साथ बयान करते हैं, "अन्ततोगत्वा दो या तीन कम्पनियां ही दूरसंचार सेवायें देने में विश्वव्यापी सूचना महा राजमार्ग (Information superhighways) पर छायी रहेगी। बड़े बुलबुले और बड़े होते जायेंगे और छोटे बुलबुले फूट जायेंगे।" इसी प्रकार एम सी आई अध्यक्ष जेराल्ड एच. टेलर ने 1996 में कहा था कि "अगले पांच वर्षो में" दूरसंचार के क्षेत्र में "सम्भवतः चार से छः ग्लोबल-गैंग ही प्रभावी ताकतों के रूप में रह जायेंगे।" मीडिया के बेताज बादशाह रुपर्ट मर्डोक के शब्दों में, "इजारेदारी तब तक एक भयानक चीज है जब तक कि आप इस पर काबिज न हो जाये।"[7]

आज के बढ़ते हुए विश्वव्यापी एकाधिकार पूंजीवादी पद्धति में मूल्य-प्रतिस्पर्धा की भूमिका, उन्नीसवीं सदी के स्वतंत्र प्रतिस्पर्धात्मक पूंजीवाद के युग की तुलना में काफी घट गयी है। पहले के समय में, जब प्रत्येक वैयक्तिक फर्म का बाजार में बहुत छोटा हिस्सा हुआ करता था, तो प्रतिस्पर्धा के मुख्य हथियार 'कीमतों में कमी' और 'गुणवत्ता में वृद्धि' हुआ करते थे : इन साधनों द्वारा कोई भी फर्म बाजार में टिके रहने और अपना मुनाफा तथा बजार-हिस्सा (market share) भी बढ़ा सकने की आशा रख सकता था। प्रतिस्पर्धा व्यापक थी और बदस्तूर जारी थी तथा थोड़े से फर्मों के प्रतिस्पधियों तक सीमित नहीं थी। साधारणतया कोई भी अकेली फर्म पूरे बाजार को प्रभावित नहीं कर सकती थी, जिसका मतलब था कि कीमत, उत्पादन और निवेश के स्तर बाजार की अवस्था द्वारा निर्धारित होते थे कि वैयक्तिक पूंजी द्वारा। परन्तु संकेन्द्रण और केन्द्रीकरण के साथ ही ये सारी चीजें बदल गयीं। जैसे-जैसे मुख्य उद्योगों में प्रतिस्पर्धियों की संख्या मुट्ठीभर लोगों में सिकुड़ती गयी (नव क्लासिकीय अर्थशास्त्र की भाषा में ये "ओलिगोपोलिस्ट्स" कहलाते थे) प्रतिस्पर्धा पक्षपातपूर्ण होती गयी। इस प्रकार की कीमत-कटौती जो फर्मो के अस्तित्व पर ही खतरा उत्पन्न करने वाली थी और इस प्रकार बड़े-बड़े एकाधिकारी (या ओलिगोपोलिस्टिक) उद्यमों के बीच मूल्य संग्राम (Price Warpore) छेड़ देने वाला था, को स्वतः पराजित होता हुआ देखा जाने लगा और इसे कारगर ढंग से प्रतिबंधित कर दिया गया। ठीक उसी समय बाजार सहभागिता (मार्केट शेयर) की प्रतिस्पर्धा बढ़ गयी जिसमें प्रयुक्त मुख्य हथियार थे। माल विभेदीकरण और आक्रामक विपणन तकनीकों के समूचे हरबे-हथियार। परम्परागत मूल्य स्पर्धा की अपेक्षा एकाधिकारीय प्रतिस्पर्धा कारपोरेट घरानों की प्रतिद्वंद्विता का मुख्य धरातल बन गया। जब नये उद्योग प्रकट

होते हैं (जैसे पर्सनल कम्प्यूटर और कम्प्यूटर साफ्टवेयर उद्योग) तो पहले-पहल प्रतिस्पर्धा आम तौर पर तगड़ी होती है। इसमें कीमतों में भारी कटौती की प्रक्रिया भी शामिल रहती हैएक ऐसी प्रक्रिया जो तब तक जारी रहती है जब तक कि एक परिपक्व अल्पतंत्री बाजार के निर्माण में छीना-झपटी का माहौल नहीं बन जाता।[8]

एकाधिकारी पूंजी के अंतर्गत परिपक्व उद्योगों में मुनाफा लगातार ऊपर उठता जाता है जबकि उत्पादन इसकी निर्धारित क्षमता स्तर से नीचे रहता है। परिणामतः संयंत्रों और उपकरणों में उनकी क्षमता का एक बड़ा हिस्सा बचा रह जाता है। मुनाफा बटोरने की ऐसी होड़ प्रभावी मांग के विकास को कुन्द करती है और निवेश बन्द कर देने को प्रवृत्त होती है। जैसा कि पाल स्वीजी इसे व्यक्त करते हैं, ''पूंजी संचयन, जो कि एक विस्तारित हो रही अर्थव्यवस्था को कायम रखने के लिए आवश्यक होता है, निष्फल हो गया है।'' बड़े निगम उस मात्रा से अधिक बेशी मूल्य पैदा करने में सक्षम होते हैं जितना कि वे नयी उत्पादक क्षमता में लाभप्रद ढंग से पुनर्निवेश कर सकें। नतीजतन उन्नत पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की सामान्य गतिविधि में ठहराव आ जाता है। अमेरिकी अर्थव्यवस्था द्वारा पैदा किये गये बेशी मूल्य के अध्ययन (बरान और स्वीजी के *मोनोपोली कैपिटल* 1966 में पहली बार प्रस्तावित प्रणाली विज्ञान द्वारा विश्लेषित) से यह ज्ञात हुआ कि सकल बेशी मूल्य 1963 में सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 50 प्रतिशत से बढ़कर 1988 में 55 प्रतिशत तक पहुंच गया।[9]

इनके प्रभाव अर्थव्यवस्था की सामान्य दशा में देखे जा सकते हैं। अमेरिकी अर्थव्यवस्था पिछले पच्चीस वर्षों से आर्थिक ठहराव की शिकार है जिसके पुनर्जीवित होने के कोई भी लक्षण दूर-दूर तक नजर नहीं आ रहे। अर्थव्यवस्था की औसत वार्षिक वृद्धि दर उन्नीस सौ सत्तर के दशक में 4.4 प्रतिशत से गिरकर अस्सी के दशक में 3.2 प्रतिशत, नब्बे के दशक में 2.8 प्रतिशत और 1990 से 1995 में 1.8 प्रतिशत पर आ गयीयानी सत्तर के दशक से अन्तिम दशक के प्रथम छह वर्षों में लगभग 60 प्रतिशत की गिरावट। और केवल अमेरिका ही अकेला नहीं है। उसी कालावधि में सभी उन्नत पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं के इसी तरह के आंकड़े प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इस संकट से उबरने के लिए पूंजी द्वारा प्रस्तुत समाधान वैश्विक अर्थव्यवस्था के पुनर्विन्यास की चेष्टा करवा रहा है, जिसके तहत संघों और राज्यों पर मजदूरी और सभी कल्याणकारी कार्यक्रमों के खर्चे कम करने के लिए दबाव बनाये जा रहे हैं, व्यापार की स्वतंत्रता और निजीकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है और पूरी दुनिया में पूंजी की गतिशीलता में आ रही अड़चनों को हटाया जा रहा है।[10]

तथापि, पूंजी के पक्ष में राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था की इन तिकड़मों ने सामान्य ढांचागत संकट, जिसमें यह फंस चुकी है, से उबरने के लिए कुछ नहीं किया है। समृद्धतम अर्थव्यवस्थाओं में ज्यादातर बाजार संतृप्त हो चुके हैं और विपणन के जरिये मांग का कृत्रिम उद्दीपन व्यावसायिक आवश्यकता बन चुका हैएक ऐसा साधन जो प्रभावी मांग की समग्र कमी की आंशिक रूप से भरपाई करता है। जैसा कि साढ़े तीन दशक पूर्व एक विपणन विशेषज्ञ ने चिह्नित किया था, ''व्यापार की समस्या यह हुआ करती थी कि माल का निर्माण व उत्पादन कैसे किया जाये; परन्तु अब प्रमुख समस्या यह हो गयी है कि माल का विपणन कैसे किया जाये या उसकी बिक्री कैसे की जाये।'' उत्तरोत्तर, पूरे तंत्र का गुरूत्व-केन्द्र 'उत्पादन' से 'विक्रय' (और वित्त) की ओर खिसक गया है।[11]

वस्तुत : अर्थव्यवस्था में यह खिसकन दशकों से बढ़ती जा रही है जो उन्नत पूंजीवाद के अभिलाक्षणिक अतिसंचयन और गतिहीनता के समूची परिघटना से जुड़ी है। तीन दशक पूर्व बरान और स्वीजी ने *मोनोपोली कैपिटल* में अमेरिकी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत ''विक्रय प्रयासों'' की भूमिका का एक क्लासिक लेखा-जोखा प्रस्तुत किया। उन्होंने इंगित किया कि उन्नीसवीं सदी के स्वतंत्र प्रतिस्पर्धात्मक पूंजीवादी युग में विज्ञापन छोटे पैमाने पर ही था; लेकिन शताब्दी के संधिकाल तक आते-आते एकाधिकारी पूंजीवाद के उभरने के साथ ही इसने सम्पूर्णतः परिमाणात्मक और गुणात्मक दोनों रूपों में नये आयाम ग्रहण कर लिये और इसकी वर्तमान दशामान (प्रतिशत राष्ट्रीय आय के परिप्रेक्ष्य में) 1920 के इर्द-गिर्द पहुंच गया है। इस प्रकार 1962 तक विज्ञापन पर वार्षिक खर्च बढ़कर 12 अरब डालर से ऊपर चला गया जो कि सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 2 प्रतिशत के आसपास बैठता है। बाजार को शक्तिशाली ढंग से प्रभावित करने में माहिर बड़ी-बड़ी फर्मों ने ईजाद किया कि इन माध्यमों, जैसेविज्ञापन, ब्राण्ड नामों, ट्रेडमार्कों, विशिष्ट पैकिंग, स्टाइल और माडल में परिवर्तन वगैरह, से वे उपभोक्ताओं की आंखों में अच्छे-बुरे की पहचान करने की उल्लेखनीय की क्षमता सृजित कर सकते हैं। ऐसी तकनीकों द्वारा उपभोक्ताओं के प्रयोजनों को चालाकी से बदलते हुए और छोटे प्रतिस्पर्धियों को बाहर खदेड़ते हुए, फर्में अपने मुनाफों और वृद्धि दरों को बढ़ाने में सफल रहीं। यद्यपि स्वाभाविक मूल्य स्पर्धा दुर्लभ हो गयी, परन्तु बिकाऊ शक्ल में आयोजित प्रतिस्पर्धा सर्वत्र व्याप्त हो गयी। इस प्रकार एकाधिकारी पूंजीवाद की बनावटी मांग की दुनिया में बेचने की कोशिशें, बेशी को खपाने एवं उत्पाद-चक्र के प्रबन्धन दोनों के मुख्य साधनों के रूप में उभर कर सामने आयी है।[12]

ये परिवर्तन, जैसाकि हेरी, ब्रेवरमैन ने बाद में *लेबर ऐण्ड मोनोपोली कैपिटल* (1974) में इंगित किया, स्वयं फर्मों के संगठन में प्रतिबिम्बित हुईं। यद्यपि उत्पादन अधिकांश मैन्युफैक्चरिंग कारपोरेशनों के सबसे बड़े भाग को संघटित करता रहा, और यद्यपि कि वित्त-साधन ही ''पूरी संघटना का मस्तिष्क केन्द्र'' था, तथापि ''कारपोरेशनों के क्रिया-कलापों के सभी क्षेत्रों में विपणन का दबदबा'' नकारा नहीं जा सका। फर्म के भीतर,

विपणन के प्रयोजन इतने प्रभावी होते हैं कि स्वयं इंजीनियरिंग प्रभाग का ढांचा इससे व्याप्त हो जाता है और प्रायः इसके मातहत हो जाता है। स्टाइलिंग, डिजाइन और पैकेजिंग, यद्यपि कि संगठन की उत्पादन इकाई द्वारा सम्पादित होती है, इंजीनियरिंग प्रभाग पर विपणन मांगों को थोपने का ही काम करती हैं। स्टाइलिंग और अस्थायित्व-पूर्ण निर्माण इस्तेमाल करो और फेंकोदोनों तरीकों से कम टिकाऊ उत्पादों को बनाने का नियोजन विपणन की आवश्यकता है जो इंजीनियरिंग प्रभाग द्वारा सम्पादित किया जाता है; जैसाकि उत्पाद-चक्र की अवधारणा हैकिसी दूसरे तरीके की बजाय उपभोक्ताओं की जरूरतों को उत्पादन की जरूरतों के अनुरूप ढालने का प्रयास।[13]

मोनोपोली कैपिटल के प्रकाशन के तीन दशक बाद (और *लेबर ऐण्ड मोनोपोली कैपिटल*

के प्रकाशन के दो दशक के कुछ ही बाद) यह विश्लेषण पहले से अधिक प्रासंगिक प्रतीत होता है। विपणन अपनी समग्रता में (विज्ञापन से भिन्न) एकाधिकारी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के भीतर एक सर्वव्यापी शक्ति बन चुका है। वर्ष 1992 में अमेरिकी कारोबार ने अनुमानतः दस खरब डालर (सकल घरेलू उत्पाद का छठवां भाग) विपणन पर खर्च किया यानी लोगों को मात्र यह प्रेरित करने में कि वे ज्यादा से ज्यादा मालों की खपत करें। विज्ञापन के मद में अपेक्षाकृत बहुत थोड़ा हिस्सा व्यय किया गयां उदाहरणार्थ, वर्ष 1993 में अमेरिका में विज्ञापन के मद में 140 अरब डालर खर्च किया गया जबकि वार्षिक बिक्री-प्रोत्साहन खर्च कदाचित इसका तीन गुना था।[14]

विपणन, जैसा कि (विगत सदी के) अन्तिम दशक में प्रचलित हुआ, उत्पादन के अन्तर्गत विस्तृत श्रम-शक्ति प्रबन्धन के सदृश, वैज्ञानिक प्रबन्धन तंत्र का सत्व है, जो खरीदारों पर लक्षित होता है। इसके (विपणन के) अग्रणी प्रतिपादक घटकों में चार तत्व सम्मिलित होते हैं : लक्ष्यांकन (Targeting), अभिप्रेरण अनुसंधान (Motivation Research), उत्पाद विकास (Product Development) और विक्रय संचार (Sales Communication)। लक्ष्यांकन जनसांख्यिकीय सूचना के आधार पर विपणन अभियान के लिए सम्भावनासम्पन्न ''लक्ष्य'' (खरीदारों का बाजार अंशक) सुनिश्चित करने की एक कवायद है।

आजकल फोकस ''अतिलक्ष्यांकन'' पर है जिसमें बाजार का अंशक तेजी के साथ कोई एक परिवार या यहां तक कि कोई एक व्यक्ति होता जा रहा है। व्यावसायिक सलाहकार की हैसियत से रेगिस मेक केना अपनी पुस्तक *रिलेशनशिप मार्केटिंग* (1991) में स्पष्ट करते हैं, विक्रेता (निकट भविष्य में) न सिर्फ विद्यमान प्रौद्योगिकियों को बल्कि अपनी अभिसारी क्षमताओं को भी निहायत संजोकर रखेगा : पर्सनल कम्प्यूटर, डाटाबेस, सी डी-रोम्स, ग्राफिक डिस्प्ले, मल्टीमीडिया, कलर टर्मिनल्स, कम्प्यूटर-वीडियो तकनोलाजी... एक बदस्तूर संचालक जिसे किसी भी चीज में और कहीं पर भी काउण्टर टाप अथवा डैश बोर्ड को हरकत में लाने के लिए निर्मित किया जा सकता है, स्कैनर्स जो टेक्स्ट पढ़ते हैं, और नेटवर्क्स जो सूचना के विस्तृत फैलाव को तुरत-फुरत निर्मित और वितरित करते हैं... प्रौद्योगिकी और विपणन का गठबन्धन ...इन सभी को ग्राहकों को कम्पनी में लाने का वाहन होना चाहिए।[15]

सूचना राजमार्ग की अन्योन्यक्रिया मूलक प्रकृति प्रत्येक सक्षम खरीदार के बारे में विस्तृत सूचना की सम्भावना रखती है। टाइम वार्नर ने अपने डाटाबेस में पहले से ही 520 लाख घरेलू उपभोक्ताओं को सूचीबद्ध कर लिया है; और अभी तो यह इब्तदा है।

'अभिप्रेरण अनुसंधान' के बिना लक्ष्यांकन महत्त्वहीन है। जो सम्भावित खरीदार की क्रय प्रेरणा को विश्लेषित करने तथा ग्राहकों की संख्या बढ़ाने के लिए उसके व्यवहार में मनोवांछित बदलाव लाने का प्रयास करती है जिसे एक बार वेब्लन ने ''ग्राहकों का संख्या उत्पादन'' का नाम दिया था। आधुनिक विपणन में, व्यापार इतिहासज्ञ डैनियल पोप स्पष्ट करते हैं, ''बाजार के विभागीकरण पर आधारित दांव-पेंच उन उपभोक्ताओं को पटाने में प्रयोग किये जाते हैं जिनकी जीवन-शैली और व्यक्तित्व सावधानीपूर्वक चित्रित कर लिये गये होते हैं।[16]

विपणन की जरूरतों को पूरा करने के लिए उत्पादों का विकास और उनकी पैकिंग 'उत्पाद प्रबंधन' के अन्तर्गत आता है जो विपणन का तीसरा घटक है, जैसाकि बरान और स्वीजी ने अवलोकन किया है, यह ''उत्पादन और विक्रय प्रयत्नों की व्याख्या करने में'' मार्गदर्शन करता है। ज्यादातर उत्पाद-डिजाइन पृथक उपयोग मूल्य पैदा करने की बजाय विपणन के अनुरूप ब्राण्ड निरूपण और स्टाइल से ही सरोकार रखते हैं। विपणन-रणनीति के हिस्से के रूप में 'उत्पाद कम टिकाऊ बनाना' प्रायः नियोजित किया जाता है। सर्वोपरि तौर पर, 'उत्पाद प्रबन्धन' का कार्य खरीदारी को उकसाने के लिए, उत्पाद की बाहरी शक्ल में तब्दीली करना है। विपणन की औंधी दुनिया में उत्पाद से जुड़ा हुआ विजुअल सिम्बल ही उत्पाद ठहरता है। पेप्सी के एक प्रबंधक के शब्दों में, ''यह विजुअल ही है जो दस में से नौ हिस्सा उस चीज का धारण करती है जिस नाम से आप उसे पुकारते हैं... हम यकीनी तौर पर एक ''जीवन्त दिवा-स्वप्न'' निर्मित कर रहे हैं, और इसकी कड़ी है पेप्सी-कोला की बोतल।''[17]

विज्ञापन विक्रय सम्प्रेषणों का सर्वोत्तम ज्ञात तत्व है। लेकिन विक्रय प्रोत्साहन और प्रत्यक्ष विपणन उत्तरोत्तर हावी होते जा रहे हैं। विक्रय प्रोत्साहन खरीदारों को, किसी रासायनिक अभिक्रिया में उत्प्रेरक की भांति, तुरन्त क्रय करने को प्रेरित करने का प्रयास है। इसमें इस प्रकार की तकनीकें प्रयुक्त होती हैं, जैसेखेलकूद की प्रतियोगिताएं, छूटें, 'स्क्रेच करो और जीतो' के गेम, कूपन आदि। अधिक से अधिक वैयक्तिीकृत विपणन-ज्ञान की वृद्धि के साथ प्रत्यक्ष आर्डरों की संख्या त्वरित गति से बढ़ी है। अमरीकी घरेलू उपभोक्ताओं को वितरित कैटलागों की संख्या 1980 से 1994 के बीच 16 प्रतिशत औसत वार्षिक वृद्धि की दर से बढ़ी। भविष्य में, सूचना राजमार्ग पर ट्रैफिक बाहुल्य का श्रेय विक्रय प्रोत्साहन और प्रत्यक्ष विपणन को ही जायेगा।[18]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूचना राजमार्ग में कारपोरेट जगत की दिलचस्पी का मुख्य कारण इस तथ्य में निहित है कि इसे (सूचना राजमार्ग को) विस्तृत नये बाजारों को खोलते हुए देखा जाता है, जिसका यह भी मतलब होता है लक्ष्यांकन की विविधता और प्रभावकता, अभिप्रेरण अनुसंधान, उत्पाद-प्रबन्धन और विक्रय-संचार का विस्तारयानी, एक सम्पूर्ण विपणन रणनीति। रेमण्ड विलियम्स ने नयी सूचना प्रौद्योगिकी पर अपनी चर्चा के दौरान बताया, ''मैन्युफैक्चरिंग कारपोरेशनों और सरकार में उनके सहयोगियों की ओर से विपणन के एक नये चरण को प्रारम्भ करने के लिए जबर्दस्त दबाव है।'' जो चीज उभरकर सामने आ रही है, और कुछ समय से आती रही है, वह है ''विश्वव्यापक बाजार'' : ब्रेवरमैन लिखते हैं, ''ऐसा एकाधिकारी युग में ही होता है कि उत्पादन का पूंजीवादी तरीका व्यक्ति, परिवार और सामाजिक आवश्यकताओं की समग्रता को वशीभूत कर लेता है और उन्हें बाजार के अधीनस्थ कर देता है, और यह भी कि उन्हें पूंजी की अपेक्षाओं के अनुरूप गढ़ देता है।'' भावी सूचना राजमार्ग इसे हासिल करने के लिए अत्यधिक शक्तिशाली साधन प्रस्तुत करता है।[19]

विश्वव्यापक बाजार का आविर्भाव जिन्दगी के हर पहलू में जाहिर होता हैमनोरंजन के क्षेत्र को शामिल करते हुए, जिससे लोगबाग अपने अधिकांश ''खाली वक्त'' को भरते हैं। ब्रेवरमैन के अनुसार, ''समाज का अपक्षय और प्राकृतिक वातावरण

से सुस्पष्ट विभाजन एक रिक्तता छोड़ देता है, जब ''खाली'' क्षण उपस्थित होते हैं,। परिणामस्वरूप,

कामधंधे से अलग का वक्त काटने का काम भी बाजार पर आश्रित हो जाता है, जो उदासीन मनोविनोदों, मनोरंजनों और दृश्यों को भयंकर रूप से इस कदर विकसित करता है कि ये शहर की सीमित परिस्थितियों के मुआफिक होते हैं तथा स्वयं जिन्दगी के एवजों के रूप में पेश किये जाते हैं। चूंकि वे ''खाली'' वक्तों के सभी घंटों को भरने का साधन बनते हैं, अतः उन कारपोरेट संस्थानों से मुक्तहस्त प्रवाहित होते हैं जिन्होंने पूंजी के विस्तारण के लिए मनोरंजन और 'क्रीड़ा' के प्रत्येक साधन को उत्पादन प्रक्रिया में रूपांतरित कर दिया है।[20]

इस तरीके से सामूहिक मनोरंजन बाजार के लिए अत्यधिक सहायक दिशा में प्रवाहित किया जाता है और पूरे समाज में विपणन के लिए मुख्य नलिका बन जाता है। काफी अर्से से प्रमुख संचार माध्यम और मनोरंजन उद्योग विलयोन्मुख होते आये हैं और उनके बीच भेद करना मुश्किल हो गया हैएक ऐसी प्रक्रिया जो इस डिजिटल युग में पूर्णरूपेण समेकित और अन्योन्य प्रभावोत्पादकता से संयुक्त सूचना राजमार्ग के प्रशस्तीकरण को त्वरित करती जा रही है।

'द पालिटिक्स ऑफ माडर्निज्म' में विलियम्स हमें याद दिलाते हैं, ''नई प्रौद्योगिकी का क्षण, वस्तुतः चयन का क्षण है।'' लेकिन इस प्रकार के चयन एक निश्चित हद तक, थोपी गयी आर्थिक और सांस्कृतिक जकड़बन्दी के भीतर ही सीमित हैं। उनका मानना है कि जब तक वर्तमान व्यवस्थापरक प्रवृत्तियां किसी तरह रोकी नहीं जातीं, तब तक, *नई सूचना प्रणालियां वित्तीय संस्थानों, माल-आदेश विक्रेताओं, पर्यटन एजेन्सियों और आम विज्ञापनकर्ताओं द्वारा शासित होती रहेंगी।* इस तरह के कारोबार की किस्में मौजूदा *''आर्थिक प्रणाली'' के अन्तर्गत, जिनके फलने-फूलने के बारे में पहले से ही अनुमान लगाया जा सकता है, उन्नत इलेक्ट्रानिक मनोरंजन और सूचना के सम्पूर्ण अथवा आवश्यक कारोबार-किस्मों के रूप में देखी जायेंगी। इससे भी गम्भीर बात यह है कि वे मनोरंजन व सूचना को अपने तरीके से परिभाषित करने और व्यावहारिक तथा अपने आप पूरी हो सकने वाली अपेक्षाओं को गढ़ने के लिए अग्रसर होंगी।*[21]

बिजनेस सम्बन्धी साहित्य में इन निष्कर्षों की जोरदार पुष्टि होती है, जहां और भी अधिक परिष्कृत विश्लेषण यह स्वीकार करते हैं कि डिजिटलीकरण केवल प्रौद्योगिकी का ही प्रश्न नहीं है, बल्कि इससे 'धन संचय' की एक नई अवसंरचना प्रसूत हो रही है।

"घर्षण रहित पूंजीवाद" का कल्पनालोक

इस पृष्ठभूमि के साथ यह सम्भव हो जाता है कि हम और अधिक समीक्षात्मक दृष्टिकोण से सूचना युग की विचारधारा पर दृष्टिपात करें। जैसा हम देख चुके हैं, सूचना राजमार्ग की गुमराहकारी सुन्दर भविष्य की घोषणा करने वाली संकल्पनाएं प्रचलित हैं। आम जनता के बीच बहुतेरे ऐसे लोग हैं जो नई प्रौद्योगिकी के प्रत्याशित लोकतंत्रात्मक प्रभावों के प्रति अत्यधिक आशावादी हैं। अन्य लोग सूचना क्रान्ति के परिणामस्वरूप अत्याधुनिक तकनोलाजी से युक्त छोटे-छोटे फर्मों के बढ़ते आर्थिक प्रभुत्व को देखकर जश्न मना रहे हैं; और यह मान बैठे हैं कि सूचना क्रान्ति बड़े-बड़े कारपोरेशनों और विशाल राज्य को उत्तरोत्तर बीते कल की चीजें बनाती जा रही है।

हालांकि सूचना राजमार्ग की एक दूसरी संकल्पना भी है जो आम चर्चा में बहुत कम नजर आती है और अधिकांशतः कारपोरेट बिरादरी तक ही सीमित रहती हैऐसी संकल्पना जो उस मानसिकता का पोषण करती है जिसे बिल गेट्स ने ''स्वर्ण के लिए दौड़' की संज्ञा दी है।

सूचना राजमार्ग के ज्यादातर कारपोरेट विश्लेषण वर्तमान संचार माध्यमों के विलयोन्माद को मान्यता प्रदान करते हुए प्रारम्भ होते हैं जो गेट्स के अनुसार, कारपोरेशनों की ओर से यह निर्धारित करने का प्रयास है कि कौन सी फर्में उन सूचना बिटों (information bits) के सबसे बड़े हिस्से का नियंत्रण करेंगी जो पूरे समाज में घरों, कक्षाओं और कार्यस्थलों तक अपनी पकड़ स्थापित करेंगे। यह तो पहले ही स्पष्ट है कि इन स्थलों तक बिटों के सम्प्रेषण के लिए केबिलों पर केबिल व फोन कम्पनियों का नियंत्रण होना बहुत अधिक सम्भव है। फिर भी, जैसा कि गेट्स लिखते हैं, ''केबिल और फोन कम्पनियों की महत्त्वाकांक्षाएं बिटों के लिए मात्र पाइप मुहैया कराने तक ही सीमित नहीं रहतीं, बल्कि उससे काफी आगे निकल जाती हैं।'' ये कम्पनियां एक तरह की ''आर्थिक आहार श्रृंखला'' निर्मित करने में दिलचस्पी लेने लगी हैं जो निचले स्तर पर बिटों की आपूर्ति और वितरण से लेकर ऊपरी स्तर पर कम्प्यूटर एप्लीकेशनों, सेवाओं और विषयवस्तु तक संचारित होगी। ये कम्पनियां बिटों पर पूरा अधिकार चाहती हैं, न कि केवल उन्हें आपूर्तित करना। ''यही कारण है कि केबिल कम्पनियां, क्षेत्रीय टेलीफोन कम्पनियां और उपभोक्ता-इलेक्ट्रानिक्स के उत्पादक हालीवुड स्टुडियो टेलीविजन और केबिल प्रसारकों एवं अन्य सादृश्य व्यवसायियों के साथ काम करने के लिए पिल पड़ रहे हैं।''[22]

इन सारी गड़बड़पचीसियों के बाद भी, हमें विश्वास जताया जाता है कि नई संचार प्रणाली के नियंत्रण को लेकर हो रही इस छीना झपटी के पीछे एक अदृश्य हाथ मौजूद है जो एक लाभकारी दिशा में संकेत करता है। इस परिप्रेक्ष्य में समग्र कारपोरेट संकल्पना का स्वयं गेट्स द्वारा अच्छी तरह प्रतिनिधित्व करते हैं जो यह भविष्यवाणी करते फिरते हैं कि सूचना राजमार्ग ''घर्षण रहित पूंजीवाद'' के एक नये युग को प्रस्तुत करेगा।

वह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि नई प्रौद्योगिकी के आगमन के साथ ही पहली बार एडम स्मिथ की बाजारों की वह अवधारणा संभाव्य बनेगी जिसमें ''प्रत्येक खरीदार प्रत्येक विक्रेता के दाम को जानता हो और प्रत्येक विक्रेता यह जानता हो कि प्रत्येक खरीदार कितना अदा करने का इच्छुक है''जिसे अर्थशास्त्री ''पक्का ज्ञान'' या ''पक्की सूचना'' के नाम से पुकारते हैं, जो ''पक्की प्रतिद्वंद्विता'' की एक पूर्वधारणा है। वह दावा करते हैं, ''यह हमें मन्द-घर्षण (low friction) और कम ऊपरी खर्च वाले पूंजीवाद की नई दुनिया में ले जायेगी, जिसमें बाजार सूचना की बहुतायत होगी और सौदे की लागतें कम होंगी। यह खरीदारों की जन्नत होगी। उससे भी ज्यादा यह एक विश्वजनीन ''घर्षण रहित'' बाजार होगा जिसमें लक्ष्यांकन, प्रोत्साहन, अनुसंधान, उत्पाद प्रबंधन

और विक्रय संचार प्रतीयमान यथार्थ के सभी पहलुओं में व्याप्त हो जायेगा। अतएव, गेट्स के अनुसार, ''पूंजीवाद के बुनियादी तंत्र में इलेक्ट्रानिक बाजार से सुधार आयेगा।''

गेट्स हमें बताते हैं कि विज्ञापनकर्ताओं द्वारा सक्षम खरीदारों का लक्ष्यांकन पहले से अधिक प्रभावी होगा। ''सूचना राजमार्ग अति सूक्ष्मतम व्यक्तिगत भिन्नताओं के आधार पर उपभोक्ताओं को वर्गीकृत करने और प्रत्येक को विज्ञापन की अलग-अलग श्रृंखला उपलब्ध कराने में सक्षम होगा।''[23]

गेट्स के विचार से यदि सूचना राजमार्ग को उत्पादन को प्रभावित करना है तो यह कार्य मुख्यतः पारस्परिक अन्तर्क्रिया की वृद्धि के परिणामस्वरूप, वैयक्तिक मालदार खरीदारों को परोसे जाने वाले उत्पादों को उनके मनमाफिक बना देने की क्षमता द्वारा सम्पन्न होगा। ''कम्प्यूटर उन उत्पादों को, जिनका आज विशाल उत्पादन हो रहा है, इस योग्य बना देंगे कि उनका विशाल उत्पादन भी होता रहे और उपभोक्ताओं के खास वर्ग के लिए भी बन जायें।'' खरीदार अपने कम्प्यूटर स्क्रीनों पर उपलब्ध कराये गये पूर्वनिर्धारित विकल्पों के सूची से चुनते हुए ''मनमाफिक'' (customised) उत्पादों (उदाहरणार्थ, एक जीन्स) खरीदने में सक्षम हो जायेंगे। फिर भी, इस प्रकार का ''मनमाफिक'' उत्पादन यद्यपि कि सतही तौर पर निहायत व्यक्तिगत और लचीला है, मुख्यतः विशाल विपणन का एक यंत्र मात्र होगाक्रय करने के लिए अतिरिक्त प्रलोभन से थोड़ा ज्यादा।[24]

केवल यही नहीं कि विपणन पूरे सूचना राजमार्ग पर व्याप्त हो जायेगा, जैसा कि सूचना के ठेकेदारों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है, बल्कि स्वयं सूचना की बड़े स्तर पर खरीद-फरोख्त होगी। गेट्स लिखते हैं, ''कुछ लोगों को भ्रम है कि इंटरनेट पर सूचना मुफ्त होगी, या बड़े स्तर पर कुछ ऐसा ही। यद्यपि उपभोक्ताओं द्वारा प्रदत्त ढेर सारी सूचना, नासा चित्रों से लेकर बुलेटिन बोर्ड की प्रविष्टियों तक, मुफ्त तो होती रहेंगी, परन्तु मेरा मानना है कि विशिष्ट आकर्षक सूचना, चाहे वे हालीवुड की फिल्में हों अथवा अतिव्यापक डाटाबेस हों, हमेशा मुनाफे को दिमाग में रखकर ही उत्पादित की जायेगी।''[25]

नये तंत्र की व्यावसायिक संभावनाओं का गुणगान करने में गेट्स अकेले नहीं हैं। उप राष्ट्रपति (अब भूतपूर्वअनु.) अल गोर की नजर में, ''यह सभी दृष्टियों से इक्कीसवीं सदी की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और मुनाफेदार मण्डी होगी।'' सूचना राजमार्ग द्वारा प्रस्तुत शैक्षिक व राजनीतिक अवसरों के बारे में एक कल्पनाशील परिचर्चा के बाद *टाइम्स* पत्रिका कहती है, ''इस बात की कल्पना करना तो और आसान है कि बहुत सारा पैसा बनाने के लिए सूचना राजमार्ग का पूर्ण उपयोग हो रहा हो।''[26]

सूचना राजमार्ग में आम तौर पर विज्ञापन विपणन के मुकाबले बहुत कम भिन्नता रखेगा। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में, जिसमें आधुनिक विज्ञापन विकसित हुआ, विशेषतया इलेक्ट्रानिक मीडिया में, हम पाते हैं कि पूर्ववर्ती सूचना सौदोंकिताबों, समाचार पन्नों, चित्रों आदिके विपरीत प्रसारण ने कोई सीधा विक्रय स्थल नहीं प्रस्तुत किया था। प्रसारक इस प्रकार व्यावसायिक प्रायोजकों पर आश्रित होने लगे। अब, जैसे-जैसे सूचना राजमार्ग की पारस्परिक क्रियाशीलता सीधे विक्रयस्थलों की संख्या में जबर्दस्त बढ़ोत्तरी के लिए क्षमता बढ़ाती जायेगी। (साथ ही साथ करोड़ों दर्शकों के लिए एक चैनल पर एक ही बिन्दु पर समय से प्रसारित करने के अवसरों को कम करते हुए), वैसे-वैसे समसामयिक विज्ञापन का वैशिष्ट्य समाप्त होता जायेगा।[27]

विज्ञानकर्ता अब मात्र व्यापारिक-प्रत्युत्तरों के लिए निवेदन नहीं करेंगे, बल्कि वे सक्रिय निवेदनों पर प्रत्युत्तर देंगे। विज्ञापन क्रेताओं और विक्रेताओं के बीच एक ''सहयोग का माध्यम'' बन जायेगा। जैसा कि *वायर्ड* (Wired) के लेखक माइकल श्रेज स्पष्ट करते हैं, ''विज्ञापन विजुअल वार्तालापों, वीडियो खेलों और अनुरूपणों (simulations) की तरह का अनुभव देंगे।''[28]

अन्ततोगत्वा ये सभी कहां ले जा रहे हैं? कोई भी निश्चित तौर पर नहीं जानता। परन्तु उस प्रपंच में जो ''वन-टु-वन मार्केटिंग'' के रूप में जाना जाता है एक संभावित उत्तर तो ढूंढ़ा ही जाना है। ''विपणन सूचना क्रान्ति'' द्वारा प्राप्त वैयक्तीकृत आंकड़ों के आधार पर ग्राहकों को खींच लेने की श्रेष्ठ कुशलता का अर्थ है कि परम्परागत विशाल विपणन और जमा-जमाया विपणन भी जो सांख्यिकीय विश्लेषण द्वारा बाजारों के खंडीकरण पर आधारित होता थाअब उस विपणन के लिए रास्ता खाली कर रहा है जो सीधे-सीधे घरेलू और व्यक्तिगत उपभोक्ताओं पर लक्षित होता है, कभी जिसका ''संकीर्ण पात्र चुनाव'' के रूप में जिक्र होता था। बेस्टसेलर विपणन पुस्तिका *दि वन टु वन फ्यूचर* (1993) के लेखकों के अनुसार, विपणन के इस नये युग के मूल लक्ष्य हैं :

1. किसी भी फर्म के ''ग्राहक-शेयर'' को बढ़ाना, बजाय इसके कि बाजार-शेयर को बढ़ाया जाये; और 2. द्वि मार्गी (इन्टरेक्टिव) संचार माध्यम से ''अपने ग्राहकों के साथ सहयोग स्थापित करना।''

द मार्केटिंग इन्फार्मेशन रिवाल्यूशन (1994) में लेखकगण तर्क प्रस्तुत करते हैं कि ''विकेन्द्रित बाजारों में वर्गीकृत उत्पादों'' की इस नई दुनिया में प्रत्येक ग्राहक बाजार का एक भाग बनता है। लक्ष्य तब यह हो जाता है कि ''ग्राहक पर प्रभावी नियंत्रण'' के लिए इस नये पारस्परिक प्रभाव वाले वातावरण को भुलाया जाये। और यह विविधतायुक्त उत्पाद-अभिकल्पन (product designing) के द्वारा हासिल किया जा सकता है, साथ ही साथ ग्राहक के निर्णय लेने की प्रक्रिया को सरल बनाया जा सकता है। इसका लाभ ''उन फर्मों को प्राप्त होगा जो वस्तुतः सीधे सम्पर्क और लगातार सूचना आदान-प्रदान द्वारा ग्राहक नियंत्रण बनाते हुए इन सम्बन्धों को साधने में महारत हासिल रखेंगे।'' सारतः जो करतूत सामने आ रही है वह विश्वव्यापी एकाधिकारी पूंजीवाद के तहत धन-संचय को बढ़ावा देने के इरादे से, पुराने 'श्रम-विभाजन' के अनुपूरक में 'क्रेता-विभाजन' है।[29]

इन सबमें विद्यमान आधारभूत अभिधारणाजिसे व्यापार द्वारा प्रदत्त ''वास्तविक पूंजीवाद'' के प्रतिरूप की संज्ञा दी जा सकती हैयह है कि संचार और मनोरंजन की बड़ी फर्में ही सूचना राजमार्ग पर मुख्य सूचना प्रबंधक और साथ ही सूचना के मुख्य संग्राहक का काम करेंगी। कारपोरेट शासित पूंजीवाद के इस संदर्भ में, गेट्स हमें सूचित करते हैं, ''सूचना राजमार्ग माल उत्पादकों को पहले से कहीं अधिक दक्षता के साथ यह देखने की दृष्टि प्रदान करेगा कि खरीदार क्या चाहता है और सक्षम उपभोक्ताओं को इस

बात की छूट देगा कि वे उन मालों को और अधिक निपुणता से खरीद सकें।'' यह क्रय और विक्रय में वह दक्षता-वृद्धि है जो, किसी भी अन्य संघटक से ज्यादा, ''घर्षण रहित पूंजीवाद'' के स्वरूप को संघटित करती है।[30]

ये सभी ''यथार्थ वास्तविकता'' के चरित्र को उजागर करते हैं : भले ही डिजिटल प्रौद्योगिकी विस्तारित हो रही हो और वित्त, विपणन, मनोरंजन, मीडिया तथा सामान्यतः संचार के क्षेत्रों में पहले से और भी प्रबल भूमिका अदा कर रही हो, फिर भी 'उत्पादन' का आधारभूत तंत्र लगातार मंद पड़ता जा रहा हैघटती हुई विकास दर, बढ़ती हुई बेरोजगारी और निष्क्रिय क्षमता तथा दौलत। गरीबी के बढ़ते हुए ध्रुवीकरण के साथ। एक तरफ तो कुछ मुठ्ठी भर लोगों के लिए (प्रत्यक्षतः) संसार की सारी भौतिक सम्पदायें उनके कदमों में गिरती जा रही है, दूसरी ओर, आबादी की विशाल बहुसंख्यक जन समुदाय के लिए भौतिक दशायें निस्तेज होती जा रही हैं, और जब अकेले आर्थिक सम्बन्धों में देखा जाये तो समाज का एक बड़ा हिस्सा बद से बदतर होता जा रहा हैइस सच्चाई से पृथक कि पर्यावरण में गिरावट तो हो ही रही है।[31]

व्यवस्था-विरोध

सूचना राजमार्ग के परिकल्पन के लिए पूंजी की योजनाओं का बहुत सतही विश्लेषण भी जार्ज गिल्डर के इस तर्क को भोंडा साबित करता है कि नयी प्रौद्योगिकी के परिणामस्वरूप ''आर्थिक शक्ति विशाल संस्थानों से व्यष्टियों की ओर खिसक रही है।'' उसी प्रकार बिल गेट्स के घर्षण रहित पूंजीवाद का दिवास्वप्न, अन्ततोगत्वा, मात्र एक अधिक परिपूर्ण और विश्वव्यापी कारपोरेट शासित बाजार के साम्राज्य की अवधारण को उद्घाटित करती हैजिसमें कि अनगिनत संख्या में लोग स्वल्प आर्थिक संसाधनों से जूझते हुए प्रभावी ढंग से अलग कर दिये जायेंगे। गेट्स घोषित करते हैं, ''इस वास्तविक संसार में हम सभी समान पैदा हुए हैं,'' लेकिन वह स्वीकार करते हैं, ''वास्तविक समता'' प्राप्त कर पाना ''असल सांसारिक समता'' की तुलना में बहुत मुश्किल है।'' सूचना राजमार्ग के इस युग में, अमेरिका में करोड़ों निर्धनतम लोग, और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि विश्व अर्थव्यवस्था की परिधि में पूरी आबादी की विशाल अधिसंख्या, बिल्कुल पीछे छोड़ दिये जायेंगे।[32]

सूचना राजमार्ग उस विश्वव्यापी पूंजीवादी तंत्र पर मढ़ दिया जायेगा जो पहले से ही वृहद व बढ़ती हुई विषमता, आर्थिक ठहराव, बाजार संतृप्ति, वित्तीय अस्थिरता, शहरी संकट सामाजिक ध्रुवीकरण, सूचना पर श्रेणीबद्ध पहुंच पारिस्थितिकीय अधःपतन, आदि से ग्रस्त है। विपणन और नयी सूचना प्रौद्योगिकी का संयोजन कुछ फर्मों को उच्चतर मुनाफा और बृहत्तर बाजार शेयर हथियाने में समर्थ बनायेगा और उसके द्वारा पूंजी के महत्तर संकेन्द्रण और केन्द्रीकरण को प्रोत्साहित करेगा। यह माल की अंधभक्ति के एक विस्तृत ब्रह्माण्ड का निर्माण कर देगा। यद्यपि कि यह पूंजीवादी (प्रभावी मांग की कमी को भी नहीं) समाज के मुख्य भौतिक संकटों को हल न कर पायेगा, पर वास्तव में, इनमें से अधिकांश अन्तरविरोधों को और भी तीक्ष्ण कर देगा। पूंजीवाद बिना विपणन के टिकाऊ नहीं हो सकता, लेकिन वर्तमान स्तरों पर विपणन पूरे तंत्र को ही निगल जाने को तत्पर है। उस सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में, जिसमें महत्त्वपूर्ण सूचना दिन-दूनी रात चौगुनी एकाधिकारी पूंजी द्वारा नियंत्रित व प्रसारित हो रही हो, गेट्स द्वारा कल्पित परिपूर्ण सूचना के संसार का सपना पूर्ण हो पाना असम्भव है।

फिर भी नयी सूचना प्रौद्योगिकी को सीधे-सीधे खारिज कर देना गलत होगा। रेमण्ड विलियम्स बताते हैं, ''किसी भी सूरत में यह प्रौद्योगिकी कुछ भी तय नहीं कर सकती, लेकिन नये तंत्रों की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे नये सांस्कृतिक सम्बन्धों के निर्माण के लिए अवसर प्रदान करते हैं, जो पुराने तंत्र नहीं कर सके।''

विलियम्स के अनुसार, नयी संचार प्रौद्योगिकी शिक्षित और सहभागी लोकतंत्र की दिशा में दीर्घकालिक क्रान्ति की, और जटिल शहरी व औद्योगिक समुदायों में प्रभावी सम्प्रेषण को पुनर्जीवित करने का समसामयिक हथियार है। वह आगे सुझाव देते हैं कि, ''नयी प्रौद्योगिकियों का सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ हर प्रकार के स्वैच्छिक जुड़ाव के अमली रूपों में सुधार लाने में हो सकता है : जो सभ्य समाज के तंतु हैंबाजार और राज्य दोनों से इतर।'' लेकिन इस उद्देश्य के लिए इन हथियारों का प्रयोग केवल सामाजिक संघर्ष की बदौलत ही हो सकता है, क्योंकि समाज में व्याप्त प्रभावी शक्तियां नई प्रौद्योगिकी को बिल्कुल ही भिन्न प्रयोजनों के लिए इस्तेमाल करने का इरादा रखती हैं।[33]

सामाजिक संघर्ष को प्रसूत होना ही होगा और पूर्ण सफलता के लिए दीर्घकालिक अभियान के तहत इसका क्रियान्वयन भी करना होगा। अव्यावसायिक संचारों के लिए संघर्ष को सामाजिक आन्दोलनों के विस्तृत व रैडिकल संश्रय में हर एक सामाजिक आन्दोलन द्वारा छेड़े गये संग्राम का निश्चित रूप से मूल हिस्सा होना चाहिए। वर्तमान संचारों की समीक्षा को वाणिज्यीकरण की छिछली समीक्षा से परे जाना चाहिए और एकाधिकारी पूंजी तथा स्वयं विश्वव्यापी तंत्र तक विस्तारित होना चाहिए। सबसे बढ़कर यह महसूस करना होगा कि इस मरणासन्न तंत्र के खिलाफ इंकलाब का बिगुल फूंके बिना कुछ भी हासिल न हो सकेगा, किन्हीं भी सच्चे मूल्यों को बचाया न जा सकेगा। पूंजी के लिए अपने सिवा कोई भी चीज पवित्र नहींसंतों की अस्थियां तक भी नहीं : जैसाकि एक मार्क्स ने निर्दिष्ट किया था, पूंजी ने सब कुछ को नकद पैसे-कौड़ी के सम्बन्ध में बदल डाला है।[34]

नये सूचना वातावरण में पूंजी के लिए सबसे बुरी आशंका यह है कि हर नागरिक उस दिशा में सूचित और परस्पर सम्पर्क संवाद से जुड़ा होगा जो वाणिज्यिीकृत सूचना मार्ग की योजनाओं के विरुद्ध जाता है, और जो समूचे राजनीतिक-आर्थिक जगत, जैसा कि इसे फिलहाल संघटित किया गया है, को चुनौती देगा। उनका डरना उचित हैं क्योंकि समाज को मूलतः बदलने की शक्ति फिलहाल हाशिये पर बैठे बहुसंख्यक जनसमुदाय के हाथों में पूंजी के शासन की जड़ें जितनी नियंत्रण के वास्तविक भौतिक साधनों में जमी हुई हैं उतनी ही इस शासन के प्रति शासितों की सम्मति की क्षमता हासिल करने में भी निहित हैंशासितों द्वारा स्वयं को हाशिये पर ठेल दिये जाने और अपना शोषण करवाने में स्वयं सहयोग करने की क्षमता में। यदि वास्तविक पूंजीवादबिल गेट्स का दिवास्वप्नएक उल्टा संसार है जिसमें समस्त मानवीय संस्कृति उत्तरोत्तर बाजार की सेवा करती है, तो प्रतिरोध की संभावना मात्र यह आशा जागृत करती है

कि इसे पुनः उलटकर सीधा बिताया जा सकता है, अथवा बेहतर होगा कि अन्ततः एक साथ ही इसकी सत्ता को नेस्तनाबूद कर दिया जाये।

टिप्पणियां

1. न्यूट गिंग्रिच, *टु रिन्यू अमेरिका* (न्यूयार्क : हार्पर कॉलिंस, 1995) पृ. 57

2. जार्ज गिल्डर, *लाइफ आफ्टर टेलीविजन* (न्यूयार्क : नार्टन, 1992)

3. बिल गेट्स, *दि रोड अहेड* (न्यूयार्क : वाइकिंग, 1995)

4. देखें, स्काट लैश व जॉन उरी, *दि एण्ड आफ आर्गनाइज़्ड कैपिटलिज़्म* (मेडिसन : विस्कांसिन प्रेस विश्वविद्यालय, 1987), और लारेंस ग्रासमैन, *दि इलेक्ट्रानिक रिपब्लिक,* (न्यूयार्क : वाइकिंग, 1995)। साइबरस्पेस के अंतहीन बखानों से भरी *'दि होल अर्थ रिव्यू'* सूचना राजमार्ग के प्रति नये युग के लोकरंजक दृष्टिकोण का उत्कृष्ट उदाहरण है। नई सूचना प्रौद्योगिकी की जनवादी संभावनाओं के अनवरत उल्लेख इंटरनेट के वाणिज्यिकीकरण की संकीर्ण व सतही समीक्षाओं से पटे पड़े हैं।

5. यहां ''सूचना राजमार्ग'' का आशय इंटरनेट और मूल संचार प्रौद्योगिकियों (जैसे टेलीफोन, पर्सनल कम्प्यूटर और टेलीविजन) के अभिसरणदोनों से है। हमारी दिलचस्पी स्पष्ट रूप से एकाधिकारी पूंजीवाद के अन्तर्गत इन रूपान्तरों और विक्रय-प्रयास के बीच उपजे अंतरसम्बन्ध से है। हाल ही में, हीथर मेंजीज की कृति में सूचना राजमार्ग की संकल्पना को काफी विस्तारित किया गया है; जो उत्पादन में आये भारी परिवर्तनों को शामिल करते हुए कारपोरेशनों की एजेंसी के मार्फत हो रहे विस्तृत डिजिटल क्रान्ति को घेरने का प्रयास करती है और शोषण के अन्तरसम्बन्धों के इर्दगिर्द घूमती है, देखें हीथर मेंजीज की *'हूज़ ब्रेव न्यू वर्ल्ड? दि इन्फार्मेन हाइवे एण्ड दि न्यू इकानमी'* (टोरंटो, बिटवीन दि लाइंस, 1996) सूचना राजमार्ग के पूरे राजनीतिक अर्थशास्त्र को समझने के लिए विश्लेषण के इन स्तरों का एकीकरण आवश्यक हैहम समझते हैं, इस कृतित्व में यह कार्य समग्रतः सम्पादित है।

6. राबर्ट डब्ल्यू. मैकचेस्नी, 'पब्लिक ब्राडकास्टिंग इन दि एज आफ कम्युनिकेशंस रिवोल्यूशन'' मंथली रिव्यू, 47, अंक 7, दिसम्बर 1995

7. एडवर्ड वोल्फ, *टापॅ हेवी*

8. पाल एम. स्वीजीप

9. पाल एम. स्वीजी, द नेशन, 9 जुलाई यह ध्यातत्व है कि 'गतिहीनता' अर्थव्यवस्था के मात्र इजारेदाराना लाक्षणिकता से ही निःसृत नहीं होती, बल्कि (और भी महत्त्वपूर्ण रूप से) उद्योग की परिपक्वता की दिशा में सम्बन्धित रूझान से भी उत्पन्न होती है। देखें - हेरी मैग्डाफ

10. इकनामिक रिपोर्ट आफ द प्रेसिडेण्ट, 1997, पृ. 303, जॉन मिलर, इज द बूम एंड बस्ट साइकल ओवर?'' डलर्स सेंस नं. 211 मई-जून, 1997. 10-12

11. स्टुअर्ट हेण्डरसन ब्रिट, *दि स्पेण्डर्स* (न्यूयार्क, मैक्ग्रा हिल 1960)। पाल बरान एवं पाल एम.स्वीजी द्वारा 'थीसिस आन एडवर्डटाइजिंग' में उद्धृत।

12. बरान एवं स्वीजी, *मोनोपली कैपिटल,* (मंथली रिव्यू प्रेस, 1966)

13. हैरी ब्रेवरमैन, *लेबर एण्ड मोनोपली कैपिटल* (मंथली रिव्यू प्रेस, 1966), पृ. 266

14. केविन जे. क्लैंसी और राबर्ट एस. शुलमैन, *एक्रास दि बोल्ड,* अक्टूबर 1983, पृ. 38 (न्यूयार्क, मैक्ग्रा हिल, 1994)

15. रिचर्ड मैकेना, *रिलेशंसशिप मार्केटिंग* (रीडिंग, एम.ए., एडीसन-वेस्ली, 1991) पृ. 18

16. डैनियल पोप, *दि मेकिंग आफ माडर्न एडवरटाइजिंग* (न्यूयार्क, बेसिक बुक्स, 1983) पृ. 288-90

17. बरान और स्वीजी, *मोनोपली केपिटल,* पृ. 131-33; माइकल डॉसन, ''दि कंज्यूमर ट्रैप : बिग बिजनेस मार्केटिंग एण्ड द फ्रस्टेशन आफ पर्सनल लाइफ इन यूनाइटेड स्टेट सिंस 1945,'' 1995, पृ. 300-305

18. क्लेंसी और शुलमैन, *मार्केटिंग मिथ्स,* पृ. 171-72

19. रेमण्ड विलियम्स, *दि पालिटिक्स आफ माडर्निज्म* (न्यूयार्क, वर्सो, 1989), पृ. 122; ब्रेवरमैन, *लेबर एण्ड मोनोपली कैपिटल,* पृ. 271

20. ब्रेवरमैन, *लेबर एण्ड मोनोपली कैपिटल,* पृ. 278-79

21. विलियम्स, *पालिटिक्स आफ माडर्निज्म,* पृ. 134-35

22. बिल गेट्स, *दि रोड अहेड,* पृ. 241-42

23. उपरोक्त, पृ. 17; गेट्स, *दि इंटरनेट एण्ड सोसायटी* (कैम्ब्रिज, हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1997) पृ. 32

24. गेट्स, *दि रोड अहेड,* पृ. 166-67

25. उपरोक्त, पृ. 100

26. टाइम, 12 अप्रैल 1993, पृ. 52-54; *बिजनेस वीक,* 5 सितम्बर 1994, पृ. 61

27. विलियम्स, दि पालिटिक्स आफ माडर्निज्म, पृ. 126; निकोलस नेग्रोपोंत, *बीइंग डिजिटल* (न्यूयार्क, विंटेज, 1995), पृ. 170

28. माइकेल श्रेज, ''इज़ एडवर्टाइजिंग फाइनली डेड?'' *वायर्ड,* फरवरी 1994, पृ. 124

29. डान पेपर्स और मार्था रोजर्स, *दि वन टु वन फ्यूचर,* (न्यूयार्क, डबलडे, 1993); रिचर्ड ब्लैटबर्ग, राशी ग्लेजर और जान डी.सी. लिटिल, (सं.), *दि मार्केटिंग इन्फारमेशन रिवोल्यूशन* (बोस्टन, हारवर्ड बिजनेस स्कूल प्रेस, 1994) पृ. 17-29

30. गेट्स, *दि रोड अहेड,* पृ. 183

31. कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, *दि कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो* (मंथली रिव्यू प्रेस, 1949) पृ. 7

32. गेट्स, *दि रोड अहेड,* पृ. 258

33. विलियम्स, *दि पालिटिक्स आफ माडर्निज्म,* पृ. 135-38; *प्राब्लम्स इन मेटीरियलिज्म एण्ड कल्चर* (न्यूयार्क, वर्सो, 1980) पृ. 170-95 और *टेलीविजन* (न्यूयार्क, शोकेन, 1974, पृ. 151-52

34. मार्क्स, *पूंजी, खण्ड एक* (न्यूयार्क, विन्टेज, 1977) पृ. 229

अनुवाद : सी.एल. गुप्ता

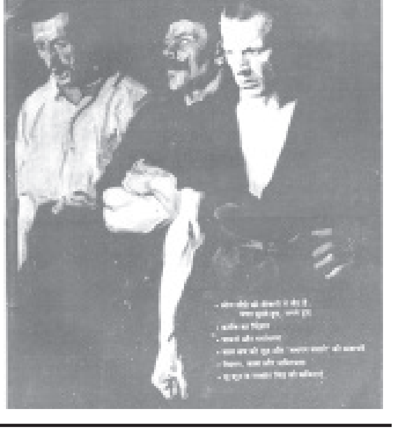

एन.जी.ओ. : साम्राज्यवाद के चाकर

जेम्स पेत्रास और **हेनरी वेल्तमेयर**

पूरे इतिहास में, मुट्ठीभर अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व करने वाले शासक वर्ग अपनी सत्ता, मुनाफे और विशेषाधिकारों की हिफाजत के लिए राज्यतंत्र और सामाजिक संस्थाओं पर निर्भर करते रहे हैं। विगत में, विशेषतया तीसरी दुनिया में, साम्राज्यवादी शासक वर्गों ने शोषित जनता को नियंत्रित करने और उनके असन्तोष को धार्मिक व साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विताओं एवं संघर्षों की ओर मोड़ देने के लिए विदेशी और स्थानीय धार्मिक संस्थाओं को वित्तपोषण एवं सहारा दिया।

यद्यपि यह काम आज भी जारी है, पर हाल के दशकों में एक नई सामाजिक संस्था उभरी है जो नियंत्रण और वैचारिक भ्रमजाल फैलाने के उसी काम को बखूबी पूरा कर रही हैये हैं तथाकथित ''गैर सरकारी संस्थाएं'' (एन.जी.ओ.यह नाम भी इन्होंने ही खुद को दिया है)। आज कम से कम 50,000 एन.जी. ओ. (और उनकी अनगिनत शाखाएं-प्रशाखाएं-उपशाखाएंसं.) पूरी तीसरी दुनिया में छाये हुए हैं और अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं, यूरोपीय, अमेरिकी तथा जापानी सरकारी एजेंसियों तथा स्थानीय सरकारों से फंड के रूप में कुल 10 अरब डालर से अधिक प्राप्त कर रहे हैं। कई विशालकाय एन.जी. ओ. के मैनेजर करोड़ों डालर का बजट संचालित करते हैं और किसी बहुराष्ट्रीय कम्पनी के सी.ई.ओ. के बराबर वेतन और सुविधाएं प्राप्त करते हैं। वे अन्तरराष्ट्रीय कांफ्रेंसों में भाग लेने के लिए हवाई यात्राएं करते हैं, चोटी के औद्योगिक और वित्तीय डायरेक्टरों के साथ बैठकें करते हैं और ऐसे नीतिगत फैसले लेते हैं जो कि लाखों लोगों, विशेषतया गरीबों, महिलाओं और असंगठित क्षेत्र में लगे मेहनतकशों को प्रभावित करते हैंअधिसंख्य मामलों में उन्हें हानिकारक रूप से प्रभावित करते हैं।

एन.जी.ओ. विश्वव्यापी राजनीतिक और सामाजिक मंच पर बहुत प्रभावशाली भूमिका निभा रहे हैं। वे एशिया, लातिनी अमेरिका और अफ्रीका के ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में कार्य करते हैं तथा यूरोप, अमेरिका और जापान में स्थित अपने प्रमुख दाताओं के साथ मातहती भूमिका में निरन्तर जुड़े रहते हैं। यह एन.जी. ओ. की व्यापक पैठ और तथाकथित ''प्रगतिशील विश्व'' के ऊपर उनकी आर्थिक और राजनीतिक ताकत का ही एक लक्षण है कि उनके नकारात्मक प्रभावों की सुसंगत वामपंथी आलोचना बहुत कम हुई है। वृहत्तर रूप में यह विफलता संगठित वामपंथी आन्दोलनों को विस्थापित और बरबाद करने तथा उनके बुद्धिजीवी रणनीतिकारों एवं सांगठनिक अगुआओं को फोड़ लेने में एन. जी.ओ. की सफलता का भी परिणाम है।

आज ज्यादातर वामपंथी आन्दोलन और जनप्रवक्ता अपनी आलोचना का निशाना आई. एम.एफ., विश्वबैंक, बहुराष्ट्रीय निगमों, प्राइवेट बैंकों आदि को बनाते हैं जो कि तीसरी दुनिया की लूट का वृहत-आर्थिक एजेण्डा निर्धारित करते हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। लेकिन तीसरी दुनिया के औद्योगिक आधार, स्वतंत्रता और जीवनस्तरों पर हमला वृहत-आर्थिक तथा सूक्ष्म-सामाजिक-राजनीतिक, दोनों धरातलों पर हो रहा है। मजदूरों, वेतनभोगी मेहनतकशों, किसानों तथा छोटे-मोटे कारोबार करने वाले लोगों पर ढांचागत समायोजन की नीतियों के भयावह परिणाम राष्ट्रव्यापी जन-असन्तोष पैदा कर रहे हैं। और यहीं एन.जी.ओ. सामने आते हैं जो लोगों को पट्टी पढ़ाकर इस असन्तोष को कारपोरेट/बैंकिंग सत्ता संरचनाओं और मुनाफों पर सीधे हमले से हटाकर स्थानीय माइक्रो-प्रोजेक्टों, गैर-राजनीतिक ''ग्रासरूटी'' स्व-शोषण और ''लोक-शिक्षा'' की ओर मोड़ देते हैं जिसमें साम्राज्यवादी और पूंजीवादी मुनाफाखोरी के वर्गीय विश्लेषण के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती।

महत्त्वाकांक्षी शिक्षित वर्गों की ऊर्ध्वमुखी गतिशीलता के लिए दुनियाभर में एनजीओ आज नवीनतम वाहन बन चुके हैं। बड़ी संख्या में अकादमिकों, पत्रकारों और स्वतंत्र पेशा व्यक्तियों ने एनजीओ के साथ लगकर फलदायी कैरियर बनाने के लिए वामपंथी आन्दोलन से मुंह मोड़ लिया, जहां जाहिर है, उन्हें कोई खास भौतिक लाभ नहीं मिल पाता था। वे अपने साथ संगठनात्मक और वाग्मितापूर्ण कौशल तथा एक खास लोकप्रियतावादी शब्दावली लेकर आये। आज हजारों एनजीओ डायरेक्टर अपने फैशनेबल उपनगरीय आवासों या अपार्टमेण्ट्स से अपने सुसज्जित दफ्तरों और बिल्डिंग काम्प्लेक्सों में 40,000 डालर की स्पोर्ट्स कार में सवार होकर जाते हैं और अपने बच्चों तथा घरेलू कामकाज को नौकरों और बागीचे को माली की देखरेख में छोड़ जाते हैं। वे अपने देश के धूल-कीचड़ भरे गांवों के मुकाबले गरीबी पर होने वाले अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों के आयोजन स्थलों (वाशिंगटन, बैंकाक, टोक्यो, ब्रसेल्स, रोम, आदि) से ज्यादा वाकिफ होते हैं और अपना ज्यादा समय भी वहीं गुजारते हैं। वे कम वेतन के विरुद्ध ग्रामीण शिक्षकों के प्रदर्शन पर धावा बोलती पुलिस की लाठी सर

जेम्स पेत्रास स्टेट युनिवर्सिटी आफ न्यूयार्क, बिंघमटन में समाजशास्त्र के प्रोफेसर एमेरिटस तथा सेण्ट मैरी'ज़ युनिवर्सिटी, हेलीफैक्स, कनाडा में अन्तरराष्ट्रीय विकास अध्ययन के एडजंक्ट प्रोफेसर हैं। उन्होंने लातिनी अमेरिका, तीसरी दुनिया के देशों तथा वैश्विक विकास पर 36 पुस्तकें तथा 300 से अधिक लेख लिखे हैं।
हेनरी वेल्तमेयर युनिवर्सिडाड आटोनोमा डि ज़काटेकास, मेक्सिको में समाजशास्त्र तथा अन्तरराष्ट्रीय विकास अध्ययन के प्रोफेसर हैं। उन्होंने कनाडा के राजनीतिक अर्थशास्त्र और लातिनी अमेरिका में विकास के मुद्दों पर कई पुस्तकें लिखी हैं।
यह लेख उनकी नई पुस्तक **'ग्लोबलाइजेशन अनमास्क्ड'** से लिया गया है।

पर खाने का जोखिम उठाने के बजाय ''योग्य प्रोफेशनलों'' को नकद नारायण उपलब्ध कराने के नये-नये प्रस्ताव बनाने में ज्यादा प्रवीण होते हैं। एनजीओ के चौधरियों का समूह एक नया वर्ग है जो सम्पत्ति के स्वामित्व अथवा सरकारी संसाधनों पर नहीं आधारित है बल्कि साम्राज्यवादी फण्डों और महत्त्वपूर्ण जनसमूहों को नियंत्रित करने की खुद की क्षमता से उत्पन्न हुआ है। एनजीओ चौधरियों को एक नये प्रकार के कम्प्राडोर समूह (दलाल पूंजीपति) के रूप में समझा जा सकता है जो किसी भी उपयोगी वस्तु का उत्पादन नहीं करते बल्कि दाता देशों के लिए उपयोगी सेवाएं मुहैया कराते हैं; निजी लाभों के लिए अपने देश की गरीबी का सौदा करते हैं।

अपनी स्थिति की सफाई देने के लिए एनजीओ डायरेक्टरों द्वारा किये जाने वाले औपचारिक दावेकि वे गरीबी, विषमता आदि से लड़ रहे हैंस्वार्थपूर्ण और छद्मपूर्ण हैं। एनजीओ की बढ़त और आम जीवन-स्तरों की गिरावट में सीधा सम्बन्ध है : एनजीओ की संख्या में बढ़ोत्तरी ने ढांचागत बेरोजगारी अथवा किसानों के भारी पैमाने पर विस्थापन को कम नहीं किया है, और न ही असंगठित मेहनतकशों की बढ़ती हुई फौज के लिए जीवन-यापन योग्य मजदूरी-स्तर ही प्रदान किया है। एनजीओ ने जो किया है वह यह कि उसने प्रोफेशनलों का एक छोटा सा तबका तैयार किया जो विदेशी मुद्रा में आमदनी के बूते नव-उदारवादी अर्थव्यवस्था की उन तबाहियों से बच निकलते हैं जो उनके देश और आम लोगों को प्रभावित करती हैं, तथा वर्तमान सामाजिक वर्गीय ढांचे में ऊपर चढ़ने की सीढ़ी पा जाते हैं।

बहरहाल, यह असलियत एनजीओ संचालकों की उस छवि के बिल्कुल विपरीत है जो उन्होंने अपने लिए बना रखी है। उनकी प्रेस विज्ञप्तियों और सार्वजनिक बयानों के अनुसार, वे ''निरंकुश राज्यसत्तावाद'' और ''बर्बर बाजार पूंजीवाद'' के बीच एक ''तीसरे रास्ते'' का निरूपण करते हैं : वे खुद को ''वैश्विक अर्थव्यवस्था'' में उभरी दरारों में कार्यरत ''सिविल सोसायटी'' के हरावल बताते हैं। एनजीओ-सम्मेलनों में जो आम उद्देश्य हमेशा प्रतिध्वनित होता है, वह है ''वैकल्पिक विकास।''

''सिविल सोसायटी'' के बारे में तरह-तरह के शब्द और पदावलियां गढ़ना एक फिजूल की कसरत है। ''सिविल सोसायटी'' कोई एकीभूत निष्कलंक सत्ता नहीं हैयह उन वर्गों को मिलाकर बना है जिनके बीच बंटवारा आज जितना गहरा है उतना इस शताब्दी में पहले कभी नहीं था। सभ्य समाज में मेहनतकशों के खिलाफ अधिकांश भीषण अन्याय वैभवशाली बैंकरों द्वारा किये जाते हैं जो घरेलू कर्जों पर बेहिसाब ब्याज निचोड़ते हैं; भूस्वामियों द्वारा किये जाते हैं जो गरीब-किसानों को उनकी जगह-जमीन से उजाड़ देते हैं; और औद्योगिक पूंजीपतियों द्वारा किये जाते हैं जो बहुत ही कम मजदूरी पर कमरतोड़ मेहनत कराकर मजदूरों की रक्त-मज्जा निचोड़ डालते हैं। ''सभ्य समाज'' की बात करते समय एनजीओ संचालक उस प्रचण्ड वर्ग-विभाजन, वर्ग-शोषण और वर्ग-संघर्ष पर पर्दा डालते हैं जिसने मौजूदा ''सभ्य समाज'' को ध्रुवीकृत कर रखा है। विश्लेषण के स्तर पर निरर्थक और अस्पष्ट होते हुए भी ''सभ्य समाज'' की धारणा एनजीओ की पूंजीपतियों के साथ सांठ-गांठ को सुगम बनाती है जो उनकी संस्थाओं को वित्तपोषित करते हैं और उनके प्रोजेक्टों और अनुयायियों को उन बड़े व्यावसायिक हितों के अधीनस्थ बनाने की छूट देते हैं जो नव-उदारवादी अर्थव्यवस्थाओं को निर्देशित करते हैं। इसके अलावा एनजीओ संचालकों का ''सभ्य समाज'' सम्बन्धी शब्दाडम्बर सामाजिक सेवाएं प्रदान करने वाले व्यापक लोक-कार्यक्रमों और राजकीय संस्थानों पर आक्रमण करने का उपकरण भी बन जाता है। एनजीओ संचालक बड़े व्यवसायियों के ''राज्यसत्तावाद''-विरोधी शब्दाडम्बर में उनका साथ देते हैंएक यह काम ''सभ्य समाज'' के नाम पर करता है और दूसरा ''बाजार'' के नाम परताकि राजकीय संसाधनों का नये सिरे से बंटवारा किया जाये। निर्यात को सब्सिडी देने और वित्तीय जमानतों के निमित्त लोक विधियों को बढ़ाने के लिए पूंजीपतियों के ''राज्यसत्तावाद-विरोध'' का प्रयोग किया जाता है, जबकि एनजीओ संचालक ''उप-ठेके'' द्वारा थोड़े से लाभार्थियों को घटिया सेवा प्रदान कर एक छोटा हिस्सा हथियाने का प्रयास करते हैं।

एनजीओ संचालकों की नव परिवर्तनवादी 'ग्रासरूटी' नेताओं वाली छवि के विपरीत, वे वास्तव में 'ग्रासरूटी' प्रतिक्रियावादी हैं जो निजीकरण को ''निचले स्तर से'' प्रोत्साहित करते हुए और जनान्दोलनों को हतोत्साहित करते हुए और इस प्रकार प्रतिरोधों को समाप्त करते हुए अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई.एम.एफ.) के कामों में सम्पूरक की भूमिका निभाते हैं।

इस प्रकार, सर्वत्रव्यापी एनजीओ वामपंथ के समक्ष एक गंभीर चुनौती खड़ा करते हैं जो उनके उद्गम, ढांचे और सिद्धान्त (आइडियालॉजी) के आलोचनात्मक-राजनीतिक विश्लेषण की मांग करता है।

एनजीओ का उद्गम, ढांचा और सिद्धान्त

एनजीओ राजनीति में एक अन्तरविरोधी भूमिका में दिखाई पड़ते हैं। एक तरफ तो वे तानाशाहियों और मानवाधिकारों के उल्लंघन की आलोचना करते हैं। दूसरी ओर, वे रैडिकल सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों के साथ होड़ करते हुए जनान्दोलनों को प्रभावशाली नव-उदारवादी अभिजातों के साथ सहयोगपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा में मोड़ने का प्रयास करते हैं। वास्तव में, ये राजनीतिक अवस्थितियां इतनी अन्तरविरोधी नहीं हैं जितनी दिखाई देती हैं।

एनजीओ के विकास और संवर्द्धन का पिछले पच्चीस वर्षों का सर्वेक्षण करने से हम पाते हैं कि एनजीओ का आविर्भाव तीन घटनाक्रमों के समुच्चयों में हुआ। सबसे पहले यह एक सुरक्षित आश्रय के रूप में तानाशाही शासनों के दौरान अस्तित्व में आया जहां विभिन्न मतावलम्बी बुद्धिजीवी मानवाधिकार उल्लंघन के मुद्दे उठा सकते थे तथा कठोर आर्थिक कार्यक्रमों से पीड़ितों के लिए ''राहत कार्यक्रम'' (सर्वाइवल स्ट्रैटेजी) आयोजित कर सकते थे। लेकिन ये मानवतावादी एनजीओ इस बात के लिए सतर्क थे कि स्थानीय मानवाधिकारों को कुचलने में लगे अमेरिका और यूरोपीय देशों के कुकर्मों की पोल-पट्टी न खुल जाये या लोगों को निर्धन बनाने वाली ''मुक्त-बाजार'' नीतियों पर प्रश्नचिह्न न लगे। इस प्रकार एनजीओ रणनीतिक रूप से ''डेमोक्रेट्स'' के रूप में स्थापित किये गये जो दमनकारी स्थानीय शासकों के सम्मुख व्यापक जनान्दोलनों की गम्भीर चुनौती पेश होने पर शासक वर्गों और

साम्राज्यवादी नीति-निर्धारकों के लिए राजनीतिक विकल्प के रूप में उपलब्ध रहते थे। आलोचकों के रूप में एनजीओ को दिया जाने वाला पश्चिमी फंड बीमे में निवेश जैसा था जो दलाल प्रतिक्रियावादी शासकों के लड़खड़ा जाने की दशा में सुरक्षा कवच का काम करता था। यह स्थिति ''क्रिटिकल'' एनजीओ के बारे में थी जो फिलिपीन्स में मार्कोस के शासन में दिखाई दी, चीले में पिनोशे के शासनकाल में दिखाई दी, कोरिया में पार्क तानाशाही के दौरान दिखायी दी, और ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

एनजीओ की दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ोत्तरी ऐसे समय हुई है जब साम्राज्यवादी वर्चस्व को ललकारने व्यापक जनान्दोलन उभरने के संकेत मिल रहे हैं। रैडिकल सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों और संघर्षों ने एक तरह से मुनाफेदार माल प्रस्तुत किया है जिसे भूतपूर्व रैडिकल एवं छद्म लोकप्रेमी बुद्धिजीवी तमाम यूरोपीय और अमेरिकी बहुराष्ट्रीय निगमों व सरकारों से करीबी से जुड़े मालदार निजी व सार्वजनिक फाउण्डेशनों के हाथों बेचने में कामयाब रहे। फण्ड दाताओं ने सामाजिक-विज्ञान के क्षेत्र में इस प्रकार की बौद्धिकता में दिलचस्पी दिखायी है, जैसे''शहरों के निर्धन इलाके में हिंसा की प्रवृत्तियों का अध्ययन'' (चीले में 1983-86 के जनउभार के दौरान एनजीओ का एक प्रोजेक्ट), जन-समुदायों में घुसपैठ करने और उनकी सारी ऊर्जा सामाजिक रूपान्तरण के बजाय 'सेल्फ-हेल्प' (स्वयं-सहायता) प्रोजेक्टों में समेट देने की एनजीओ की क्षमता, तथा ''नये पहचान-मूलक विमर्श'' में लिपटी हुई वर्ग-सहयोगवादी भाषा-शैली का आविष्कार जो क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं को साखहीन और तितर-बितर करने में मदद करे।

पिछड़े देशों में जनविद्रोहों ने समुद्रपार एजेंसियों की थैलियां ढीली कर दीं; और सत्तर के दशक में इंडोनेशिया, थाईलैण्ड एवं पेरू में, अस्सी के दशक में निकारागुआ, चीले और फिलीप्पींस में तथा नब्बे के दशक में अल सल्वाडोर, ग्वाटेमाला तथा कोरिया में लाखों डालर उड़ेल दिये गये। एनजीओवाले अनिवार्य रूप से वहां ''आग ठण्डी करने'' के लिए ही थे। रचनात्मक प्रोजेक्टों की आड़ में उन्होंने वैचारिक आन्दोलनों में सम्मिलित होने के विरुद्ध वकालत की। इस प्रकार उन्होंने अपने अनुकूल स्थानीय नेतृत्व की भरती करने, उन्हें विदेशी कांफ्रेंसों में भेजने तथा क्षेत्रीय समूहों को नव उदारवाद की वास्तविकता के अनुरूप ढलने को प्रोत्साहित करने में विदेशी धन का प्रभावी इस्तेमाल किया।

बाहरी माल-मत्ता जैसे-जैसे हाथ लगता गया वैसे-वैसे एनजीओ की तादाद बढ़ती गयी और ये विभिन्न समुदायों को हर छोटी-छोटी बात पर लड़ने वाली जंगखोर जागीरदारियों में बांटकर पुष्पित-पल्लवित होते रहे। हर ''ग्रासरूट ऐक्टिविस्ट'' ने एक नया एनजीओ स्थापित करने के लिए गरीब-वंचित आबादी के किसी नये हिस्से (स्त्रियां, अल्पसंख्यक समुदायों के युवक, आदि) पर अपना ठीहा जमा लिया, और अपने प्रोजेक्ट, क्रियाकलाप या समाजसेवा क्षेत्र का ''माल बेचने'' के लिए एम्सटर्डम, स्टाकहोम आदि की तीर्थयात्रा पर निकल पड़ा।

तीसरी घटना जिसमें एनजीओ का मोटापा और भी बढ़ा, तब देखने को मिलती है जब मुक्त बाजार पूंजीवाद के चलते निरन्तर भीषण आर्थिक संकट उभरने लगे। बजट में कटौती के कारण बुद्धिजीवियों, अकादमियों, प्रोफेशनलों के हाथों से नौकरी खिसकती गयी या वेतन कम होते गये जिस कारण दूसरी नौकरी आवश्यकता बन गयी। एनजीओ नौकरी देने की एजेंसी बन गये, और कंसल्टेंसियां उन सम्भावित पतनोन्मुखी बुद्धिजीवियों के लिए सुरक्षा कवच बन गये जो सभ्य समाजमुक्त बाजारके वैकल्पिक विकास की भाषा बोलने और नव-उदारवादी शासनतंत्र तथा अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों के साथ सांठ-गांठ वाली नीतियां चलाने को आतुर थे। जब लाखों लोग अपनी नौकरियों से हाथ धो बैठते हैं और गरीबी पूरी आबादी के एक महत्त्वपूर्ण हिस्से तक व्याप्त हो जाती है, तब एनजीओ रोकथाम में जुट जाते हैं : वे ''सर्वाइवल स्ट्रेटेजी'' पर केन्द्रित करते हैं, आम हड़तालों पर नहीं : वे मुफ्त लंचपैक के कैम्प आयोजित करते हैं, जमाखोरों, नव-उदारवादी सत्ता अथवा अमेरिकी साम्राज्यवाद के खिलाफ विराट प्रदर्शन नहीं।

तथाकथित ''जनवादी संक्रमण'' के दौरान जब पुराना तंत्र चरमरा रहा था, भ्रष्ट शासक नियंत्रण खो रहे थे और जन संघर्ष तेजी से उभर रहे थे, उस समय एनजीओ को अपने कामों को थोड़ी-बहुत ''प्रगतिशील'' रंगत देने का मौका मिल गया। पुरानी सत्ताओं को हटाकर कंजरवेटिव चुनावी राजनीतिज्ञों के लिए रास्ता साफ करने में एनजीओ माध्यम बने, एनजीओ ने अपने ग्रासरूटी शब्दजाल, संगठनात्मक संसाधनों और ''जनवादी'' मानवाधिकारों के हिमायती की हैसियत का प्रयोग केवल कानूनी राजनीतिक सुधारों के संक्रमण तक सीमित राजनेताओं और पार्टियों के पक्ष में जनसमर्थन का मार्ग प्रशस्त करने के लिए किया, सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के लिए नहीं। एनजीओ ने जनसाधारण की लामबन्दी को भंग कर दिया और आन्दोलनों को टुकड़े-टुकड़े में बांट दिया। 1980 के और 1990 के वर्षों में चीले से लेकर फिलीप्पींस, दक्षिण कोरिया और उसके पार तक प्रत्येक देशों में जहां भी ''चुनावी कारोबार'' सम्पन्न हुआ, एनजीओ ने ऐसे शासकों के पक्ष में वोट बटोरने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई जिन्होंने सामाजिक-आर्थिक यथास्थितिवाद को बरकरार रखा अथवा और भी गहरा बना दिया। बदले में, बहुत सारे पूर्व-एनजीओ संचालक सरकारी एजेंसियां चलाने लगे अथवा जनहितकारी होने का भ्रम पैदा करने वाले वाले विभागों (जैसे महिला अधिकार, जन भागीदारी, जन अधिकारिता आदि) में मंत्री बन गये।

एनजीओ की प्रतिक्रियावादी भूमिका उन्हीं संरचनाओं में निहित है जिन पर वे आधारित हैं।

एन.जी.ओ. ढांचा : भीतर से अभिजात और बाहर से चाटुकार

वस्तुतः एनजीओ ''गैर सरकारी'' संगठन नहीं हैं। वे विदेशी सरकारों से धन प्राप्त करते हैं, स्थानीय सरकारों के लिए निजी उप-ठेकेदारों के रूप में कार्य करते हैं और राज्य से घनिष्ठ रूप से जुड़ी कारपोरेट घरानों से मिलने वाले धन से संचालित निजी संस्थाओं से आर्थिक मदद प्राप्त करते हैं। निरन्तर और खुल्लमखुल्ला, वे घरेलू विदेशी सरकारी एजेंसियों के साथ सांठ-गांठ करते हैं। उनके प्रोग्राम स्थानीय जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होते बल्कि विदेशी दाताओं के प्रति उत्तरदायी होते हैं जो अपने स्वयं के मानदंडों और स्वार्थों के अनुरूप

एनजीओ के करतबों की ''समीक्षा'' और ''जांच-परख'' करते हैं। एनजीओ के पदाधिकारी स्व-नियुक्त होते हैं और उनका प्रमुख कार्य ऐसे प्रस्तावों को गढ़ना होता है जिनसे धन का आवंटन सुगम हो सके। ज्यादातर मामलों में एनजीओ प्रमुखों को उन मुद्‌दों को तलाशना होता है जो पश्चिमी धनदाताओं की दिलचस्पियों के अनुरूप हों और तदनुसार ही वे प्रस्तावों को आकार देते हैं। (उदाहरणार्थ, भारत में एड्स का मुद्‌दासं.)। इस प्रकार, 1980 के वर्षों में, ''गवर्नेबिलिटी'' और ''डेमोक्रेटिक ट्रांजिशंस'' के अध्ययन और राजनीतिक प्रस्ताव तैयार करने के लिए एनजीओ-फंड उपलब्ध हुएसाम्राज्यवादी ताकतों की इस चिन्ता को उजागर करते हुए कि तानाशाहों के पतन से जनान्दोलनों जैसी 'अन-गवर्नेबिलिटी' न उत्पन्न हो जाये जो संघर्ष को और गहन बना सकती है। अपने जनवादी और ग्रासरूटी शब्दजाल के बावजूद एनजीओ के भीतर जबर्दस्त पदानुक्रम चलता हैजिसमें डायरेक्टर का प्रोजेक्टों पर पूर्ण नियंत्रण होता है। और वही यह फैसला करता है कि किसे पटखनी देनी है या किसे अन्तरराष्ट्रीय कांफ्रेंसों में जाना है। असली ''ग्रासरूट्स'' अनिवार्य रूप से इस पदानुक्रम की सबसे निचली पैड़ी पर होते हैं, और ये ''ग्रासरूट्स'' शायद ही कभी उस पैसे को देख पाते हैं जो ''उनके'' एनजीओ बटोरकर लाते हैं, न ही उन्हें विदेश यात्रा पर जाने दिया जाता है या न ही वे अपने ''ग्रासरूटी' लीडरों को मिलने वाले वेतन-भत्ते पाने के बारे में सोच सकते हैं। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनमें कोई भी निर्णय सामूहिक निर्णय नहीं होता। अधिक से अधिक, जब डायरेक्टर और विदेशी दाताओं के बीच 'डील' पक्की हो चुकी होती है, तब एनजीओ का स्टाफ गरीबों के लिए प्रोजेक्ट की स्वीकृति हेतु 'ग्रासरूट कार्यकर्ताओं'' की मीटिंग बुलाता है। अधिकांश मामलों में एनजीओ सदस्यता पर आधारित संस्था भी नहीं होते बल्कि एक स्व-नियुक्त अभिजात होते हैं जो जनान्दोलन के लिए ''रिसोर्स पीपुल'' होने का दिखावा करते हैं, पर वास्तव में ये उनके साथ होड़ करते हैं और उनकी जड़ें खोदते हैं। इस तरह से एनजीओ सामाजिक कार्यक्रमों और आम बहसों को स्थानीय लोगों और उनके बीच से चुने गये नैसर्गिक नेताओं के हाथों से छीनकर और अ-निर्वाचित विदेशी अधिकारियों और उनके द्वारा थोपे गये स्थानीय अधिकारियों पर निर्भरता पैदा करते हुए लोकतंत्र की जड़े खोदते हैं।

एनजीओ एक नये तरह के सांस्कृतिक और आर्थिक उपनिवेशवाद का बढ़ावा दे रहे हैंनये अन्तरराष्ट्रीयतावाद के छद्‌मवेश में। हजारों लोग उच्च-शक्तिशाली कम्प्यूटरों के सामने बैठकर आपस में घोषणाओं, प्रस्तावों और अन्तरराष्ट्रीय कांफ्रेंस-निमंत्रणों का आदान-प्रदान करते हैं। तत्पश्चात वे सुसज्जित कांफ्रेंस हालों में अपने ''सामाजिक-आधार'' के वर्तमान संघर्षों और त्यागों के बारे में चार्चएं करते हैंऔर फिर इनका ''सामाजिक आधार'' यानी वैतनिक स्टाफ इन प्रस्तावों को ''जनसाधारण'' तक खूबसूरत रंगीन कागज पर छपे ब्रोशरों और ''बुलेटिनों'' द्वारा पहुंचाता है। जब विदेशी दाता पधारते हैं तो उन्हें ''एक्सपोजर टूर'' पर ले जाया जाता है जहां वे ऐसे शो-केस प्रोजेक्टों का निरीक्षण करते हैं जिसमें गरीब अपनी सहायता स्वयं कर रहा होता है तथा कामयाब लघु उद्यमियों से बातचीत करते हैं (उन बहुसंख्यकों की अनदेखी करते हुए जो पहले ही साल असफल हो जाते हैं)।

जिस तरीके से यह नया उपनिवेशवाद कार्य कर रहा है, उसकी जटिलताओं को समझ पाना कठिन नहीं है। सभी प्रोजेक्ट साम्राज्यवादी केन्द्रों और उनकी संस्थाओं द्वारा निधारित गाइडलाइन और प्राथमिकताओं के आधार पर परिकल्पित किये जाते हैं। उसके बाद वे समुदायों को ''बेचे'' जाते हैं। आकलन साम्राज्यवादी संस्थाओं द्वारा और उन्हीं के लिए किया जाता है। धनावंटन की प्राथमिकताएं बदलीं अथवा गलत आकलन हुआ तो समूहों, समुदायों, किसानों और सहकारिताओं को बेहिचक अधर में छोड़ दिया जाता है। दाताओं की अपेक्षाओं और उनके प्रोजेक्ट-आकलनकर्ताओं के आज्ञापालन के लिए हर व्यक्ति को उत्तरोत्तर अनुशासित बनाया जाता है। एनजीओ डायरेक्टर नये वायसरायों की तरह धन के सदुपयोग का निरीक्षण करते हैं और दाताओं के उद्‌देश्यों, मूल्यों और सिद्धान्त के साथ अनुरूपता सुनिश्चित करते हैं।

एनजीओ बनाम रैडिकल सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन

एनजीओ प्रोजेक्टों पर बल देते हैं, आन्दोलनों पर नहीं। वे लोगों को हाशिये पर रखकर उत्पादन करने के लिए ''लामबन्द'' करते हैं, उत्पादन और सम्पत्ति के मूल साधनों को नियंत्रित करने के लिए संघर्ष के वास्ते नहीं। वे प्रोजेक्टों की तकनीकी और वित्तीय-सहायता के दृष्टिकोण पर केन्द्रित होते हैं, उनके संरचनात्मक पहलुओं पर नहीं जिनसे लोगों की रोजमर्रा की जिन्दगी निर्धारित होती है। एनजीओ वामपंथी भाषा को सहयोजित (कोआप्ट) करते हैं''जन-शक्ति'' (पापुलर पावर), ''अधिकार प्राप्ति'' (एम्पावरमेंट), ''यौन-समानता'' (जेंडर इक्वैलिटी) ''टिकाऊ विकास'' (सस्टेनेबल डेवलपमेण्ट), ''नीचे से नेतृत्व पैदा करने'' (बाटम-अप लीडरशिप) आदि। समस्या यह है कि इस भाषा को दाताओं और सरकारी एजेंसियों के साथ गंठजोड़ के उस फ्रेमवर्क से जोड़ दिया गया है, जो संघर्ष की राजनीति के विरोध के प्रति समर्पित है। एनजीओ के क्रियाकलाप की स्थानीय प्रवृत्ति का कुल अभिप्राय यह है कि ''एम्पावरमेंट'' कभी भी सीमित संसाधनों से युक्त सामाजिक जीवन के एक छोटे से क्षेत्र को प्रभावित करने से आगे नहीं जाता एवं हमेशा उसी सीमा में रहता है जो नव-उदारवादी सत्ता और वृहत-अर्थव्यवस्था (मैक्रो इकॉनमी) द्वारा रेखांकित की जाती है।

एनजीओ और उनके प्रोफेशनल स्टाफ गरीबों, महिलाओं, जातीय उपेक्षितों आदि में अपना प्रभाव जमाने के लिए सीधे सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों के साथ होड़ करते हैं। उनकी विचारधारा और कार्यप्रणाली गरीबी के स्रोतों और उसके समाधानों की ओर से ध्यान हटा देते हैं (ऊपर और बाहर की ओर देखने के बजाय नीचे और भीतर की ओर देखते हुए) और सूक्ष्म उद्यमों (माइक्रो-इण्टरप्राइजेज) के तो क्या कहने! विदेशी बैंकों द्वारा शोषण के समापन के स्थान पर, गरीबी का समाधान उनकी इस गलत धारणा पर आधारित है कि मुख्य समस्या लोगों की व्यक्तिगत पहलकदमी (इनिशियेटिव) की है न

कि देश की आमदनी के विदेशों में स्थानान्तरण की। एनजीओ को मिलने वाली ''आर्थिक मदद'' सीमित संसाधनों के लिए समुदायों के बीच प्रतिस्पर्धा पैदा करते हुए, विश्वासघाती भेदभाव तथा अन्योन्य साम्प्रदायिक व अन्तर-साम्प्रदायिक प्रतिद्वंद्विता पैदा करते हुए, और वर्गीय अखंडता को खंडित करते हुए आबादी के छोटे-छोटे सेक्टरों को प्रभावित करती है। यही बात प्रोफेशनलों के लिए भी सही उतरती है : ये विदेशी फंड मांगने के लिए अपने-अपने एनजीओ बनाते हैं। वे विदेशी दाताओं की रुचियों से अधिकतम मिलता-जुलता प्रस्ताव प्रस्तुत करने, कम खर्चे और अधिक से अधिक समर्थकों की ओर से बोलने का दावा करते हुए आपस में होड़ करते हैं। इसका कुल परिणाम एनजीओ की तादाद में भारी बढ़ोत्तरी के रूप में होता है जो गरीब समुदायों को खंडीय और उपखंडीय समूहों में बांटते हैं ताकि वे उस वृहत्तर सामाजिक परिदृश्य को देखने में अक्षम हो जायें जो उनके कष्टों के लिए जिम्मेदार है और व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष के लिए एकजुट होने में और भी कम समर्थ हो सकें।

ताजा अनुभव भी यही प्रमाणित करते हैं कि विदेशी दाता ''संकटों'' (यथास्थिति के विरुद्ध राजनीतिक और सामाजिक चुनौतियां) के समय प्रोजेक्टों को फायनेंस करते हैं। एक बार जब आन्दोलन शान्त हो जाते हैं, तो वे अपने फंड को एनजीओ/सत्ता ''गठबन्धन'' की ओर परिवर्तित कर देते हैंएनजीओ प्रोजेक्टों को नव-उदारवादी एजेण्डा में समाहित करते हुए। सामाजिक परिवर्तन के लिए सामाजिक संगठन की बजाय ''मुक्त बाजार'' के हित में, आर्थिक विकास फंडिंग एजेण्डे का मुख्य विषय बन जाता है।

एनजीओ के ढांचे और इसकी प्रकृति अपनी ''गैर-राजनीतिक'' भाव-भंगिमा और स्वयं-सहायता पर अपने फोकस के द्वारा गरीबों को विघटित कर रहे हैं और उन्हें राजनीति के प्रति निष्क्रिय कर रहे हैं। वे नव-उदारवादी पार्टियों और जनसंचार माध्यमों द्वारा प्रोत्साहित की जा रही चुनावी प्रक्रियाओं को मजबूत बनाते हैं। साम्राज्यवाद के स्वरूप, नव-उदारवाद के वर्गीय आधार और निर्यातकों व अस्थायी मजदूरों के बीच वर्ग-संघर्ष के बारे में राजनीतिक शिक्षा से बचा जाता है। इसके बजाय, एनजीओ ''बहिष्कृत'', ''निर्बल'', ''अतिशय गरीबी'' और ''यौनिक व साम्प्रदायिक विभेदीकरण'' की बात करते हैं, पर उस सामाजिक व्यवस्था के ऊपरी लक्षणों के दायरे से बाहर कभी नहीं जाते जिसने ऐसी परिस्थितियां निर्मित की हैं। गरीबों को नव-उदारवादी अर्थव्यवस्था में विशुद्ध ''निजी स्वैच्छिक कार्रवाई'' द्वारा समेटते हुए, एनजीओ एक ऐसा राजनीतिक साम्राज्य स्थापित कर रहे हैं जहां एकजुटता और सामाजिक कार्रवाई का दिखावा अन्तरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय सत्ता-तंत्र के साथ अनुदारवादी अनुरूपता पर परदा डाल देता है।

यह कोई संयोग की बात नहीं कि जैसे-जैसे एनजीओ किसी इलाके में प्रभावी होते जाते हैं, स्वतंत्र वर्गीय राजनीतिक कार्रवाई कमजोर हुई और नव-उदारवाद निर्विरोध होता गया। वास्तविकता यह है कि एनजीओ की बढ़ोत्तरी का नव-उदारवादियों की बढ़ी हुई फंडिंग और गरीबी की भीषणता में चौतरफा वृद्धि के साथ सीधा सम्बन्ध है। इनके इलाकों में स्थानीय सफलताओं के तमाम दावों के बावजूद नव-उदारवाद की सारी शक्ति चुनौतीविहीन खड़ी है और एनजीओ सत्ता की हर दरार में अपनी पैठ बनाने में लगे हुए हैं।

विकल्पों को सूत्रित करने की समस्या दूसरे तरीके से बाधित हुई है। गुरिल्ला और सामाजिक आन्दोलनों, ट्रेड यूनियनों तथा लोकप्रिय महिला संगठनों के पूर्व लीडरों को एनजीओ द्वारा सहयोजित कर लिया जाता है। और प्रस्ताव काफी लुभावना होता है : उच्च वेतन (यदाकदा विदेशी मुद्रा में) विदेशी दाताओं द्वारा प्रतिष्ठा और पहचान, विदेशों में कांफ्रेंस और नेटवर्क, आफिस के स्टाफ और सगे-सम्बन्धियों को किसी भी दमन से सुरक्षा। इसके विपरीत, सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन भले ही मात्र थोड़े से भौतिक लाभ की संभावना पेश करते हैं लेकिन उच्चतर सम्मान व स्वतंत्रता तथा, और भी महत्त्वपूर्ण, राजनीतिक-आर्थिक तंत्र को चुनौती देने की स्वतंत्रता प्रदान करते हैं। एनजीओ और उनके विदेशी बैंकिंग सहयोगी (दि इंटर अमेरिकन बैंक, दि एशियन बैंक, दि वर्ल्ड बैंक) सूक्ष्म उद्यमों व अन्य स्वयं-सहायता प्रोजेक्टों की सफलताओं के वृतान्तों के फीचरों से भरे न्यूजलेटर प्रकाशित करते हैं, बिना इसका जिक्र किये कि उपभोग में व्यापक गिरावट के रूप में असफलताओं की संख्या बढ़ी है, अल्प दरों पर आयात से बाजार भर गया है और ब्याज दरें बढ़ती रही हैंजैसा कि 1990 के वर्षों में ब्राजील व इंडोनेशिया में घटित हुआ।

यहां तक कि ''सफलताएं'' गरीबों के एक बहुत ही छोटे हिस्से को प्रभावित करती हैं और केवल उस हद तक सफल होती हैं कि उसी बाजार में दूसरे घुसने न पायें। जबकि, इस भ्रम के पोषण में कि नव-उदारवाद एक सार्वजनिक घटना है, व्यक्तिगत सूक्ष्म उद्यमों की सफलता का प्रचारात्मक मूल्य महत्त्वपूर्ण है। सूक्ष्म उद्यम प्रवर्तन के इलाकों में बारबार हिंसात्मक विस्फोट बताते हैं कि उनके विचार हावी नहीं हो पाये हैं और यह भी कि एनजीओ स्वतंत्र वर्गीय आन्दोलनों को अभी तक बेदखल नहीं कर पाये हैं।

एनजीओ की विचारधारा मूलतः पहचान की राजनीति पर आधारित होती है जो वर्ग विश्लेषण पर आधारित रैडिकल आन्दोलनों के साथ बेईमानीभरा वाद-विवाद चलाती है। वे इस गलत धारणा से प्रारम्भ करते हैं कि वर्ग विश्लेषण ''अपचयनवादी'' (रिडक्शनिस्ट) है और मार्क्सवाद के भीतर नस्ली, साम्प्रदायिक और यौन-समानता के सवालों पर हुए लम्बे बहस-मुबाहसों को अनदेखा कर देते हैं। इससे भी बढ़कर, वे इस मीमांसा को टाल जाते हैं कि विभिन्न पहचानें खुद वर्ग-भेदों द्वारा स्पष्टता और गहनता के साथ विभाजित हैं। उदाहरण के लिए पॉश इलाके में रहने वाली चीले या भारत की नारीवादियों को ही लीजिए जो अपने घरेलू नौकरों की तुलना में पन्दह से बीस गुना ज्यादा वेतन पाती हैं जबकि वे हफ्ते में छः या सातों दिन काम करते हैं। एक यौन-समूह के भीतर ही वर्ग-भेद आवासीय, रहन-सहन का स्तर, स्वास्थ्य, तथा शिक्षा के अवसरों को निर्धारित करता है और इस बात को कि बेशी मूल्य को कौन हड़पेगा। फिर भी, अधिसंख्य एनजीओ पहचान की राजनीति (आइडेन्टिटी पालिटिक्स) के आधार पर संचालन कर रहे हैं और तर्क देते हैं कि नई व उत्तर-आधुनिक राजनीति के लिए यह प्रस्थान बिन्दु है। पहचान की राजनीति आई.एम.एफ. निर्देशित निजीकरण, बहुराष्ट्रीय कारपोरेशनों और स्थानीय भू-स्वामियों के पुरुष-प्रधान अभिजात विश्व को चुनौती नहीं देती है। बल्कि, परिवार में ''पितृसत्ता'', पारिवारिक हिंसा, तलाक, परिवार-नियोजन आदि पर ही ध्यान केन्द्रित करती है। दूसरे शब्दों में यह शोषितों के उस

सूक्ष्म-संसार के भीतर यौन-समानता के लिए लड़ती है जिसमें शोषित और कंगाल पुरुष मजदूर या किसान मुख्य खलनायक के रूप में उभरता है। यद्यपि यौन-भेदभाव या शोषण को किसी भी स्तर पर समर्थन नहीं दिया जाना चाहिए, फिर भी नारीवादी एनजीओ ने घोर शोषण वाले कमरतोड़ कामों में कामकाजी महिलाओं को लगाकर उनका काफी अनिष्ट किया है, जिसमें उच्च वर्ग के पुरुषों और महिलाओं को, किराया वसूलने वाले पुरुष व महिला भू-स्वामियों को और पुरुष तथा महिला सीईओ को मुनाफा मिलता है। नारीवादी एनजीओ ''विस्तृत परिदृश्य'' की उपेक्षा करते हैं और स्थानीय मुद्दों तथा व्यक्तिगत राजनीति पर केन्द्रित होते हैं, इसका कारण यह है कि, प्रतिवर्ष अरबों डालर उसी दिशा में प्रवाहित होते हैं। यदि नारीवादी एनजीओ ब्राजील, इंडोनेशिया, थाईलैण्ड या फिलीप्पींस में भूमिहीन पुरुष व महिला मजदूरों के साथ मिलकर खेतों पर कब्जा करने लगें, अथवा ढांचागत समायोजन नीतियों के विरुद्ध मुख्यतया अल्पवेतन भोगी ग्रामीण स्कूलों की महिला टीचरों की आम हड़तालों में शामिल होने लगें, तब उनके साम्राज्यवादी दाताओं द्वारा एनजीओ का रसद-पानी बन्द कर दिया जायेगा। सो बेहतर यही रहेगा कि लुजों के किसी दूर-दराज के गांव में किसी तरह गुजर-बसर कर रहे स्थानीय मुखिया की पितृसत्ता के खिलाफ संघर्ष में उलझाये रखा जाये।

वर्ग एकजुटता बनाम विदेशी दाताओं के साथ एनजीओ एकजुटता

''एकजुटता'' शब्द के साथ इतनी बदसलूकी की गयी है कि इसका चेहरा ही बदल गया है। एनजीओ संचालकों के लिए ''एकजुटता'' पद विदेशी मदद लिये होता है और किसी भी लक्षित ''साधनहीन'' वर्ग तक प्रवाहित होता है। प्रोफेशनलों द्वारा गरीबों पर ''रिसर्च'' या ''पापुलर एजूकेशन'' ''एकजुटता'' कहलाती है। कई मामलों में ''एड'' और ''ट्रेनिंग'' के संचारण के तंत्रात्मक ढांचे और तरीके उन्नीसवीं सदी की चैरिटी से मेल खाते हैं, और इसके प्रमोटर्स क्रिश्चियन मिशनरियों से बहुत भिन्न नहीं हैं।

एनजीओ संचालक सत्ता के ''पैतृकवाद और निर्भरता पर आक्रमण करने में ''स्वयं-सहायता'' पर बल देते हैं। नवउदारवाद के शिकार लोगों को अधिग्रहीत करने के लिए एनजीओ के बीच की प्रतिद्वंद्विता में वे यूरोप और अमेरिका में बैठे अपनी दाता संस्थाओं से महत्त्वपूर्ण सब्सिडी प्राप्त करते हैं। स्वयं-सहायता की विचारधारा सरकारी कर्मचारियों का स्थान उन स्वयंसेवकों और ऊर्ध्वगामी प्रोफेशनलों द्वारा लिये जाने पर बल देती है, जो अस्थायी तौर पर अनुबन्धित किये जाते हैं। एनजीओ का मौलिक दर्शन है, ''एकजुटता'' को नवउदारवाद की वृहत-अर्थव्यवस्था के साथ गंठजोड़ और मातहती में बदल देनाधनिक वर्गों के राजकीय संसाधनों से ध्यान हटाकर गरीबों के स्व-शोषण की ओर करते हुए।

इसके विपरीत, मार्क्सवाद वर्ग के *भीतर* वर्गीय एकता (एकजुटता) तथा देशी-विदेशी शोषकों के *विरुद्ध* दबे-कुचले लोगों (महिलाएं, अश्वेत) की एकजुटता पर बल देता है। मुख्य ध्यान ''डोनेशनों'' पर *नहीं* केन्द्रित होता है जो वर्गों को विभाजित करते हैं और छोटे-छोटे समूहों को एक सीमित अवधि के लिए शान्त कर देते हैं। एकजुटता की मार्क्सवादी अवधारणा वर्ग के सदस्यों की साझा कार्रवाई पर केन्द्रित होती हैसमान आर्थिक दुर्दशा को झेलते हुए और सामूहिक सुधार के लिए संघर्ष करते हुए। यह उन बुद्धिजीवियों को समाहित करती है जो संघर्ष में सामाजिक आन्दोलनों के लिए लिखते और बोलते हैं और जो उन्हीं राजनीतिक परिणामों में सहभागिता के लिए वचनबद्ध हैं। एकजुटता की अवधारणा ''अंगभूत'' बुद्धिजीवियों से जुड़ी होती है जो बुनियादी रूप से आन्दोलन के हिस्से होते हैं, वर्ग-संघर्ष के लिए विश्लेषण और शिक्षा उपलब्ध कराते हैं और सीधी कार्रवाई में सबके साथ राजनीतिक खतरों को मोल लेते हैं। इसके विपरीत एनजीओ संचालक संस्थाओं, अकादमिक सेमिनारों, विदेशी फाउण्डेशनों तथा अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों के संसार के साथ नाभिनालबद्ध होते हैं, जो ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जिसे वही समझ सकते हैं और जो मूलभूत पहचानों के आत्मवादी पंथ में ''दीक्षित'' होते हैं। मार्क्सवादी, एकजुटता को वर्गीय राजनीतिक आन्दोलनों के खतरों में बराबर भागीदारी के रूप में देखते हैं, उन बाहरी समालोचकों की तरह नहीं जो सवालों को उठाते तो हैं पर प्रतिवाद कुछ नहीं करते। एनजीओ संचालकों का मूल उद्देश्य अपने ''प्रोजेक्ट'' के लिए विदेशी फंड ''हथियाना'' होता है। मार्क्सवादियों के लिए मुख्य मुद्दा होता हैसामाजिक बदलाव लाने के लिए राजनीतिक संघर्ष और शिक्षा की *प्रक्रिया*। आन्दोलन ही सब कुछ है, यानी सामाजिक परिवर्तन के उद्देश्य की चेतना जागृत करने का साधन और ऐसी राजनीतिक सत्ता का निर्माण करना जो बहुसंख्यक जनता की दशा सुधार के लिए समर्पित हो।

एनजीओ संचालकों के लिए, ''एकजुटता'' मुक्ति के सामान्य उद्देश्य से बिछुड़ चुकी है। यह मात्र लोगों को किसी नौकरी पर लगने, सेमिनार के पुनर्प्रशिक्षण अथवा शौचालय निर्माण के लिए एकत्र करने का रास्ता है। मार्क्सवादियों के लिए, सामूहिक संघर्ष की एकजुटता में भावी जनवादी समूहवादी समाज के बीज छुपे होते हैं। व्यापक दूरदर्शिता अथवा इसका अभाव ही ''एकजुटता'' के स्वरूप को तय करता है।

वर्ग संघर्ष और सहयोग

एनजीओ संचालक नव-उदारवादी शासन तंत्रों और विदेशी फंडिंग एजेंसियों का सहयोग प्राप्त करने के लिए वांछित कीमतों और शर्तों के भवसागर में बिना गहराई में डुबकी लगाये ही प्रत्येक के सर्वत्र ''सहयोग'' के बारे में बकते रहते हैं। वर्ग संघर्ष को अतीत के आदि-मानव कालीन संघर्षों के रूप में देखा जाता है जो अब अस्तित्व में ही नहीं है। आज हमें बताया जाता है कि ''गरीब'' नवजीवन के निर्माण के लिए कृतसंकल्प हैं। वे पारम्परिक राजनीति, सिद्धान्त और राजनेताओं से ऊब चुके हैं। बहुत ठीक। पर समस्या यह है कि मध्यस्थों और दलालों के रूप में विदेशी फंड हथियाने में एनजीओ संचालक अपनी भूमिका बहुत कम उद्घाटित करते हैं। सहयोग, सूक्ष्म उद्यम और स्वयं-सहायता का वर्षों उपदेश देते रहने के बाद भी आमदनी का संकेन्द्रण और विषमताओं में बेतहाशा वृद्धि पहले से बहुत ज्यादा है। आज विश्वबैंक सरीखे बैंकों द्वारा कृषि-व्यवसायों के निर्यात पर माइक्रो-प्रोजेक्टों को फंड दिया जाता है जो खेतिहर मजदूरों को शोषित और

विषाक्त करता है। माइक्रो-प्रोजेक्टों में एनजीओ की भूमिका निचले स्तर पर उठते हुए राजनीतिक विरोधों का शमन करना होता है जबकि उपरी स्तर पर नव-उदारवाद को बढ़ावा दिया जाता है। सहयोग की विचारधारा लाचार लोगों को, एनजीओ के माध्यम से, उच्चस्थ नवउदारवादियों से जोड़ती है।

बौद्धिक रूप से एनजीओ बुद्धिजीवी थानेदार होते हैं जो ''स्वीकार्य'' रिसर्च को परिभाषित करते हैं, रिसर्च फंडों का वितरण करते हैं तथा उन प्रकरणों और परिदृश्यों को रेखांकित करते हैं जो वर्ग विश्लेषण और संघर्ष परिदृश्य को प्रक्षेपित करता है। मार्क्सवादी कांफ्रेंसों से अलग रखे जाते हैं और ''सिद्धान्तानुयायी'' के रूप में कलंकित किये जाते है; जबकि एनजीओ अपने-आपको ''सामजिक वैज्ञानिकों'' के रूप में प्रस्तुत करते हैं। बुद्धिजीवी फैशन, प्रकाशनों, कांफ्रेंसों और रिसर्च फंडों पर नियंत्रण उत्तर-मार्क्सवादियों को एक महत्त्वपूर्ण शक्ति-पीठ प्रदान करता है, लेकिन अन्ततोगत्वा अपने बाहरी धन-दाताओं के साथ हमेशा किसी झगड़ा-लड़ाई को टालते रहने के लिए सतर्क रहना पड़ता है।

मार्क्सवादी बुद्धिजीवी आलोचक इस तथ्य से मजबूती प्राप्त करते हैं कि उनके विचार सामाजिक वास्तविकताओं के उद्भव से अनुनादित होते हैं। वर्गो का ध्रुवीकरण और हिंसक मुकाबले बढ़ते जा रहे हैं, जैसाकि उनके सिद्धान्त पूर्वसूचित करते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवादी एनजीओ के सामने व्यवहारतः कमजोर हैं जबकि रणनीतिक तौर पर मजबूत।

वैकल्पिक एनजीओ

कोई तर्क दे सकता है कि बहुत सारे अलग प्रकार के एनजीओ हैं ओर उनमें से कई समायोजन नीतिकों, आई एम एफ, ऋण भुगतानों आदि के विरुद्ध संगठित होते हैं और विरोध करते हैं और यह कि सबको एक ही श्रेणी में रखना अनुचित है। इसमें सच्चाई के कुछ कण अवश्य हैं, परन्तु यह अवस्थिति एक बहुत ही मौलिक मुद्दे को सारगर्भित करती है। एशिया और लातिन अमेरिका के किसान नेताओं का उल्लेख करना समीचीन होगा जिनके साथ, यहां तक कि, 'प्रगतिवादी' एनजीओ भी 'फूट डालो और राज करो' वाली भूमिका अदा करते हैं : एनजीओ किसान नेताओं को अपने संगठनों में मातहती भूमिका में रखना चाहते हैं और गरीबों का नेतृत्व करना चाहते हैं तथा उनके लिए बोलने का स्वांग रचते हैं। पर वे मातहत भूमिका स्वीकार नहीं करते। प्रगतिवादी एनजीओ किसानों और गरीबों को अपने रिसर्च-प्रोजेक्टों के लिए इस्तेमाल करते हैं और उनके प्रकाशन से लाभ कमाते हैं। उन तक कुछ भी वापस नहीं आता, उनके नाम पर किये गये अध्ययनों की प्रतियां भी नहीं! अपितु, किसान नेता पूछते हैं कि एनजीओ शैक्षिक सेमिनारों के बाद कभी भी अपना गला क्यों नहीं फंसाते? वे धनी और शक्तिशाली लोगों का अध्ययन क्यों नहीं करते? हमारा ही क्यों?

यह मान लेने पर भी कि ''प्रगतिवादी एनजीओ'' के भीतर ही कुछ ऐसे अल्पसंख्यक हैं जो कि सुधारवादी सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों के लिए ''रिसोर्स पर्सन'' का काम करते हैं, वास्तविकता यह है कि एनजीओ तक जाने वाले फंडों का एक तुच्छ भाग ही लोगों को मिल पाता है। इसके अतिरिक्त, एनजीओ का विशाल समूह उपरोक्त रेखांकित विवरण में सटीक बैठता है। मात्र कुछ अपवाद हो सकते है जो अन्यथा सिद्ध हों। ''प्रगतिवादी एनजीओ'' के लिए एक बड़ा प्रगतिवादी कदम यह है कि वे अपने सहकर्मियों की साम्राज्यवाद व इसके देशी गुर्गों के साथ गंठजोड़ों, सत्तावादी-विशिष्टवादी तंत्रों की विधिवत आलोचना और समालोचना करें। तब उनके लिए अपने पश्चिमी समकक्षी-एनजीओ को यह कहना अर्थपूर्ण होगा कि वे संस्था/सरकारी तंत्रों से बाहर निकल जायें और यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका के अपने ही लोगों को संगठित और शिक्षित करने के लिए वापस चले जायें तथा ऐसे सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन खड़े करें जो उन प्रभावी सत्ताओं और पार्टियों को चुनौती दे सकें जो सिर्फ बैंकों और बहुराष्ट्रीय निगमों का हित साधन करती हैं।

दूसरे शब्दों में एनजीओ को एनजीओ होने से बाज आना चाहिए और अपने को सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों के सदस्यों के रूप में परिवर्तित करना चाहिए। यही एक रास्ता है जिससे वे उन लाखों एनजीओ के झुंड में फंसने से बच सकते हैं जो दाताओं का पेटा भरने का काम करते हैं।

निष्कर्ष : एनजीओ के सिद्धान्त पर

संरचना के लिहाज से एनजीओ एक नये पेटी-बुर्जुआ वर्ग के जन्म को प्रतिबिम्बित करते हैं जो ''पुराने'' दुकानदारों, स्वतंत्रपेशा व्यक्तियों और ''नये'' सरकारी कर्मचारी समूहों से भिन्न हैं। यह उपठेके वाला क्षेत्र पहले के ''दलाल'' बुर्जुआ के निकट है, क्योंकि यह कोई वास्तविक माल नहीं उत्पादित करता, लेकिन साम्राज्यवादी उद्यमों को उन स्थानीय उप माल-उत्पादकों के साथ सटाने का काम करता है जो सूक्ष्म उद्यमों में संलग्न हैं। यह नया पेटी-बुर्जुआ इस तथ्य से चिह्नित होता है कि उसमें बहुत से पूर्व-मार्क्सवादी हैं जो एक ''प्रचलित शब्दांडम्बर'' और कुछ मामलों में विशिष्टवादी, ''हरावल पन्थी'' अवधारणा अपने साथ लेकर आते हैं। बिना किसी सम्पत्ति अथवा सत्ता में किसी निश्चित पद पर आसीन हुए, यह नया वर्ग अपनी वंशवृद्धि के लिए बाहरी फंडिंग पर बहुत अधिक निर्भर होता है। लेकिन जनता में इन्हें मार्क्सवाद-विरोधी और सत्ता-विरोधी नारों को जनवादी शब्दाडम्बरों से संयुक्त करना होता हैपरिणामतः ''तीसरे रास्ते'' और ''सभ्य समाज'' की अवधारणा का सूत्रपात होता है जो दोनों धड़ों को समेटने के लिए पर्याप्त रूप से अस्पष्टतापूर्ण होता है। यह नया पेटी-बुर्जुआ अपने अस्तित्व के लिए अन्तरराष्ट्रीय जलसों में भागीदारी पर खास भरोसा करता है, जबकि अपने ही देश में इसका कोई ठोस सांगठनिक आधार नहीं होता। ''भूमण्डलवादी'' नारा एक प्रकार के नकली ''अन्तरराष्ट्रीयतावाद'' पर पर्दा डालता है जो साम्राज्यवाद विरोधी संकल्पों से रिक्त होता है। संक्षेप में, यह नया पेटी-बुर्जुआ नव-उदारवावदी प्रतिष्ठान का ''सुधारवादी विंग'' बनता है।

राजनीतिक रूप से एनजीओ साम्राज्यवादी -रणनीतिवादी नये विचारों में सही बैठते हैं। एक तरफ जहां आई.एम.एफ.-विश्व बैंक और बहुराष्ट्रीय निगम अर्थव्यवस्था को लूटने के लिए घरेलू अभिजातों के साथ उच्च स्तर पर कार्य कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर एनजीओ निचले स्तर पर सम्पूरक क्रियाओं में व्यस्त रहते हैंउस उभरते असन्तोष को निष्क्रिय और विखंडित करते हुए जो अर्थव्यवस्था की बर्बरता से पैदा होता है। जिस प्रकार साम्राज्यवाद शोषण और विरोधनीति

की दोधारी मैक्रो व माइक्रो स्ट्रेटजी का प्रयोग कर रहा है, उसी प्रकार रैडिकल आन्दोलनों को दोधारी साम्राज्यवाद विरोधी रणनीति निर्मित करनी होगी।

एनजीओ ने उन तमाम लोगों को अपने में समा लिया है जो ''फ्री फ्लोटिंग'' बुद्धिजीवी हुआ करते थे और अपने वर्ग स्रोतों का परित्याग कर जनान्दोलनों में शामिल होते थे। परिणामतः पूंजीवाद के गहरे संकटों (एशिया और लातिन अमेरिका में मन्दी का दौर, पूर्व सोवियत संघ का विघटन) और सार्थक संगठित क्रान्तिकारी आन्दोलनों के बीच एक अस्थाई खाई पैदा हो गयीसिर्फ ब्राजील, कोलम्बिया और संभवतः दक्षिण कोरिया इसके अपवाद कहे जा सकते हैं। मौलिक प्रश्न यह है कि क्या अंगभूत बुद्धिजीवियों की नई पीढ़ी इन रैडिकल सामाजिक आन्दोलनों से प्रकट हो सकती है, एनजीओ के प्रलोभनों से दूर रह सकती है और क्या वह अगली क्रान्तिकारी लहर का अभिन्न हिस्सा बन सकती है।

अनुवाद : सी.एल. गुप्ता

यह युद्ध साम्राज्यवादी विस्तार के लिए है

(पृष्ठ 15 का शेष)

छद्म युद्ध में वे ''अक्षुण्ण'' बने रहते हैं। 'आर्म्ड फोर्सेज स्पेशल पॉवर्स एक्ट' के लागू होने पर जीने के अधिकार के रद्द किये जाने और सुरक्षा बलों की तैनाती होने पर नागरिक स्वतंत्रताओं के सीमित किये जाने के तथ्य का जिक्र तक नहीं किया गया। इस बात पर भी कोई चर्चा नहीं हुई कि अल्पसंख्यकों पर आये दिन बढ़ते हमलों की क्या वजह है, या कैसे अन्याय विद्रोह का कारण बनता है।

आतंकवाद की ऐसी विकृत समझदारी ही ऐसे कानूनों को आकार देती है जो हमारे जीवन को प्रभावित करते हैं। सरकारें दमन और शोषण के खिलाफ जनता के संघर्षों को शैतानी हरकतों के रूप में चित्रित करके उन्हें आतंकवाद के रूप में पेश करना चाहती हैं। और दावें के साथ यह कहा जा सकता है कि आतंकवाद-विरोधी कानूनों की एक परम्परा ही चल पड़ी है। यह इस पृष्ठभूमि में हो रहा है जब पुलिस की निकम्मी कार्यप्रणाली और जनता के अधिकारों, कानून के शासन, प्रमाण इकट्ठा करने, और कानूनी प्रक्रियाओं के बारे में उसकी जाहिली जगजाहिर है। नेशनल क्राइम्स रिकार्ड ब्यूरो के अनुसार 1999 में जिन केसों की सुनवाई हुई उनमें से सिर्फ छह प्रतिशत को ही सजा मिल सकी। सुनवाई भी कुल दर्ज केसों के 16 प्रतिशत की हो पायी थी। दिल्ली में कुख्यात ट्रांसिस्टर बम केस मई, 1984 से चल रहा है और आरोपी न्यायिक हिरासत में ही बना हुआ है। उपलब्ध सूचनाओं के अनुसार ऐसे ढेरों मुकदमे हैं जो बरसों से चल रहे हैं, और उनमें से अधिकांश में या तो प्रमाण कम हैं, छानबीन संदेहास्पद है, या अभियोजन पक्ष द्वारा पेश ब्यौरे असम्भाव्य है। (टाइम्स आफ इण्डिया, 23 सितम्बर '2001)। इस प्रकार जब पुलिस की वास्तविक गैरकानूनी हरकतों से कानून की निगाह को हटा लिया जाता है और आतंकवाद को साम्प्रदायिक चश्मे के साथ देखा जाता है, तो कानून का अल्पसंख्यकों और वंचित तबकों पर अत्याचार का औजार बन जाना अवश्यम्भावी है। समस्या सुलझाने की बजाय यह खुद ही समस्या बन जाता है। इस तरह आतंकवाद और कानून के शासन के बीच चुनाव करने का सवाल नहीं रह जाता बल्कि दो तरह के आतंकवाद के बीच बन जाता है। जब तक सरकारी सेनाओं के आतंक पर ध्यान नहीं दिया जायेगा, तब तक किसी भी दूसरे आतंक से लड़ पाना नामुमकिन है।

संक्षेप में, आतंकवाद के खिलाफ अमेरिका-नाटो का सैन्य अभियान हम सबकी रोज की जिन्दगी में घुसपैठ करता है। एक नया कट्टरपंथ यह उभरकर सामने आया है जो यह दावा करता है कि सुरक्षा और स्वतंत्रता में कोई तालमेल नहीं हो सकता और नागरिक अधिकारों को सीमित करके ही विभिन्न समाज आतंकवाद से लड़ सकते हैं। भूमण्डलीय आतंक के बहाने अधिकांश सरकारें ऐसी नीतियों की खोज-बीन में लगी हुई हैं जिससे कार्यपालिका को ऐसे अधिकार मिल जायें कि वह नागरिकों के निजी और सार्वजनिक जीवन पर अधिकाधिक नियंत्रण रख सके। विवेक की वे आवाजें जो न्याय और संघर्षों के समाधान के लिए प्रेरित करती हैं, सुनाई तो दे रही हैं लेकिन उन कोई ध्यान नहीं दे रहा। पहले एक और फिर दूसरी महाशक्ति द्वारा थोपे गये युद्ध से तबाह अफगानिस्तान और इसकी कंगाली की ओर धकेल दी गयी जनता की तस्वीर, जो कभी वैभवशाली हुआ करती थी, आज दिखाई दे रही है। वह दिमाग से मिटी नहीं है। इस युद्ध में दो पक्ष हैं जिनमें से एक का हमें पहले हमेशा से अधिक दृढ़ता के साथ विरोध करना है और सिर्फ एक पक्ष के समर्थन में पहले हमेशा से अधिक दृढ़ता के साथ खड़े होना हैवह है जनता का पक्ष। अधिकांश दूसरे देशों से अलग हमें आज एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी हैउन सिद्धान्तों पर अडिग रहते हुए, जिनमें हमारी आस्था है, हमें एक लम्बे संघर्ष की तैयारी करनी है।

20 नवम्बर, 2001

युद्ध : तीन कविताएं
बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

युद्ध जो आ रहा है

युद्ध जो आ रहा है
पहला युद्ध नहीं है।
इससे पहले भी युद्ध हुए थे।
पिछला युद्ध जब खत्म हुआ
तब कुछ विजेता बने और कुछ विजित.
विजितों के बीच आम आदमी भूखों मरा
विजेताओं के बीच भी मरा वह भूखा ही.

नेता जब शांति की बात करते हैं

नेता जब शांति की बात करते हैं
आम आदमी जानता है
कि युद्ध सन्निकट है
नेता जब युद्ध को कोसते हैं
मोर्चे पर जाने का आदेश
हो चुका होता है।

जब कूच हो रहा होता है

जब कूच हो रहा होता है
बहुतेरे लोग नहीं जानते
कि दुश्मन उनकी ही खोपड़ी पर
कूच कर रहा है।
वह आवाज जो उन्हें हुक्म देती है
उन्हीं के दुश्मन की आवाज होती है
और वह आदमी जो दुश्मन के बारे में
बकता है
खुद दुश्मन होता है। ●

एन.जी.ओ. की सैद्धान्तिकी और व्यवहारशास्त्र के बारे में हमारी समझ कैसे बनी?

मीनाक्षी और **शाकम्भरी**

गैर-सरकारी संगठनों (नॉन-गवर्नमेण्ट ऑर्गनाइजेशंस या एन.जी.ओ.) या स्वयंसेवी संगठनों (वालण्टरी आर्गनाइजेशंस) के बारे में आज से करीब डेढ़ दशक पहले हमारी सोच यह थी कि कुछ नेकदिल, विभ्रमग्रस्त, शहरी भलेमानस इनके जरिए ईमानदारी से शोषितों-उत्पीड़ितों की भलाई करना चाहते हैं। वे वर्तमान व्यवस्था की आन्तरिक संरचना से अपरिचित कुछ लोग हैं, जिनकी सुधारों में 'जेनुइन' आस्था है और यह कि, वे सचेतन तौर पर क्रान्ति-विरोधी नहीं होते।

दरअसल, हमारी सोच की बुनियादी दिक्कत यह थी कि उस समय हम जंगल के बजाय पेड़ देख रहे थे। एक सामाजिक-राजनीतिक संरचना या संस्था के रूप में एन.जी.ओ. के उद्देश्य, कार्यप्रणाली, इतिहास आदि के अध्ययन करने, उसे समूची विश्व व्यवस्था में अवस्थित करने या एक विश्वव्यापी परिघटना के रूप में उसका अध्ययन करने के बजाय, हम, किसी एन.जी.ओ. में या उसकी किसी परियोजना में कार्यरत जिन युवाओं के सम्पर्क में आते रहे थे, उनकी ईमानदारी, निष्ठा, श्रम और आदर्शों को देख-देखकर अपनी राय बनाते रहे थे। उस समय हम यह समझने में विफल रहे कि जनता के खिलाफ किसी भी तंत्र में ग्रासरूट स्तर पर यदि विभ्रमग्रस्त, ईमानदार, निष्ठावान लोग सक्रिय न हों तो वह तंत्र भी राज्य-तंत्र की ही भांति जनता से 'एलियनेट' एवं निष्प्रभावी हो जाता है तथा अपनी उपयोगिता खो बैठता है।

बाद के वर्षों में, आनुभविक प्रेक्षण के धरातल पर ही, हमारा सामना कुछ ऐसी वस्तुगत सच्चाइयों से हुआ, जिन्होंने एन.जी.ओ. परिघटना के मर्म को समझने में हमारी मदद की। इन्हें क्रमवार हम आज इस रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं : (i) पूर्वी उत्तर प्रदेश और उत्तराखण्ड में काम करने वाले कुछ ऐसे एन.जी.ओ. मठाधीशों को देखा जो तमाम प्रोजेक्ट्स आदि के जरिये करोड़ों का (और कुछ तो अरबों का) खेल खेल रहे थे तथा मंत्री से लेकर उच्च नौकरशाह स्तर तक का पांच सितारा जीवन बिता रहे थे। (ii) एन.जी.ओ. परियोजनाओं में कार्यरत जो कार्यकर्ता अब मिलते थे, प्रायः वे किसी आदर्श या प्रतिबद्धता से प्रेरित न होकर बेरोजगारी के मारे नौजवान होते थे जो महज नौकरी बजाते थे, कुछ ईमानदारी से तो कुछ तिकड़म से। (iii) 'ऑक्सफेम' और ऐसी ही दाता एजेंसियों के ऐसे नौकरशाहों को देखा जो किसी भी सचिव, राजदूत या मंत्री से कम हैसियत नहीं रखते थे, जिनके बच्चे विदेशों में पढ़ते थे, एक नहीं दो-दो राज्यों की राजधनियों में जो (अपनी ''समाजसेवा'' सर्किल से छुपाकर) बंगले खरीदे होते थे और जिनकी बीमा-बचत की रकम पचास लाख के आसपास थी तथा यह भी देखा कि कितने कपट-कौशल के साथ वे अपने सहकर्मियों से अपनी समृद्धि को छिपाये रखते हैं। (iv) एक और तथ्य की ओर हमारी निगाह गयी कि क्रान्तिकारी वामपंथी आन्दोलन के सैकड़ों रिटायर्ड लोग, भूतपूर्व मार्क्सवादी, नववामपंथी, 'फ्री-थिंकर्स' आदि आज पुराने सर्वोदयियों के साथ-साथ एन.जी.ओ. सेक्टर में कार्यरत हैं। (v) 'सबआल्टर्न स्टडीज़ और उत्तर-आधुनिकतावादी, उत्तर-नारीवादी, पर्यावरणवादी आदि-आदि विचारों से जुड़े लोग मार्क्सवादी विचारधारा से मार्गदर्शित सर्वहारा क्रान्तिधारा पर हमले करते हुए प्रायः एन.जी.ओ. प्रायोजित आन्दोलनों की ही मिसालें-नजीरें प्रस्तुत करते हैं, इस ओर हमारा ध्यान गया। (vi) यह देखा कि सरकारी अनुदानों से वंचित होते जा रहे शोध एवं अध्ययन संस्थानों और यहां तक कि विश्वविद्यालयों के विभागों तक पर एन.जी.ओ. की पैठ-पकड़ बढ़ती जा रही है, शोध-परियोजनाओं की दिशा और विषय के निर्धारण में उनकी अहम भूमिका बन रही है और इन शोधों-सर्वेक्षणों के नतीजे रिपोर्टों के रूप में पश्चिमी देशों में स्थित दाता-एजेंसियों के मुख्यालयों तक पहुंच रहे हैं। (vii) यह देखा कि पिछले लगभग डेढ़ दशकों के दौरान, जब से सोवियत संघ, पूर्वी यूरोप और चीन में घट रही घटनाओं के मद्देनजर, मार्क्सवाद और कम्युनिस्ट आन्दोलन पर साम्राज्यवाद के विचार-केन्द्रों से हमले तेज हुए हैं, तभी से भारत में दलित आन्दोलन और नारी आन्दोलन (अध्ययन और सांगठनिक सक्रियतादोनों दृष्टियों से) पर एन.जी.ओ. ने विशेष जोर देना शुरू किया है, और तभी से कुछ ऐसे दलितवादी और नारीवादी पैदा हुए हैं जो दलितों और नारियों को संगठित करने का काम कर रहे हैं और उनकी आड़ लेकर वामपंथ पर हमले अधिक बोल रहे हैं। ऐसे कथित वामपंथियों की भी इधर बहुतायत है जो वर्ग-आन्दोलनों को खारिज करने की सैद्धान्तिकी गढ़ते हुए सामाजिक- सांस्कृतिक स्तर पर महज दलित और नारी आन्दोलनों पर जोर दे रहे हैं। यह भी अनायास नहीं लगता कि इनमें से ज्यादातर वामपंथियों के परिवार की आय का स्रोत एन.जी.ओ. है। (एक उदाहरण, 'ऑक्सफेम' ने कुछ वर्षों पहले भारत में जाति प्रश्न पर विशेष अध्ययन शुरू किया और कुछ शिक्षण-संस्थानों में 'वुमन स्टडीज' की शुरुआत कराई। ठीक इसी समय कुछ वामपंथियों का दलित और स्त्री-प्रश्न पर अचानक जोर बढ़ गया)।

इन आनुभविक प्रेक्षणों पर साथियों से बातचीत होती रहती थी। गांवों के गरीबों में और स्त्री आन्दोलन में जो थोड़ी-बहुत हमारी सक्रियता थी, उसके दौरान हमने सीधे-सीधे देखा कि विभिन्न स्वयंसेवी संगठन जो अपने को आन्दोलनकारी बताते हैं, वे महज सुधार-कार्यों

लेखिकाद्वय **'नारी सभा'** और **'राहुल फाउण्डेशन'** की कार्यकर्ता हैं।

और सरकारी योजनाओं-कार्यक्रमों के अमल से जुड़े स्वयंसेवी संगठनों से भी अधिक खतरनाक काम कर रहे हैं। वे न सिर्फ व्यापक जनता को, बल्कि वामपंथी कतारों को भी सुधारवादी अर्थवादी चेतना दे रहे हैं, और ग्रासरूट स्तर पर वर्गीय आन्दोलन के संघटन की प्रक्रिया को विघटित कर रहे हैं। यह सब देखकर हमारी शंकायें गम्भीर प्रश्नचिह्न बनने लगीं।

इसी समय, कुछ साथियों से हमें **पी. जी. जेम्स** की पुस्तक **'नॉन गवर्नमेण्टल ऑर्गनाइजेशंस : टू मिशन'** पढ़ने को मिली। लेखक की कुछ राजनीतिक मान्यताओं से भले ही हमारी सहमति न बन पाई हो, लेकिन ऐसा लगा कि भूमण्डलीकरण के दौर में साम्राज्यवादी हितपूर्ति में एन.जी.ओ. नेटवर्क की प्रभावी भूमिका के बारे में लेखक के बुनियादी निष्कर्षों से हमारी भी सहमति बन रही है। इस बीच अमेरिका और ब्रिटेन में रह रहे वामपंथी विचारधारा के कुछ बुद्धिजीवियों और छात्रों से हमें पता चला कि पश्चिम में रैडिकल बुद्धिजीवी और आन्दोलनों से जुड़े लोग, तीसरी दुनिया के देशों में स्वयंसेवी संगठनों और दाता एजेंसियों की भूमिका पर दशकों पहले से सवाल उठाते रहे हैं और इनका विरोध करते रहे हैं। साथ ही, हमें यह भी ज्ञात हुआ कि विशेषकर लातिन अमेरिकी देशों के क्रान्तिकारी जनसंघर्षों में इन संगठनों के असली चरित्र का खूब भण्डाफोड़ हुआ और जगह-जगह से सुधार के इन खुदाई फौजदारों और 'सान्ता क्लाजों' को जनता ने पीट-पीटकर भगा दिया।

1996 में **'मंथली रिव्यू'** (खण्ड-47, अंक-4, सितम्बर, 1995) में छपा **जोन रोल्योव्स** का लेख **'तीसरा क्षेत्र (थर्ड सेक्टर) : पूंजीवाद के एक सुरक्षा कवच के रूप में'** एन.जी.ओ. के बारे में सुसंगत और मुकम्मिल ढंग से एक राय बनाने में हमारे लिए सबसे अधिक मददगार सिद्ध हुआ। दो वर्षों बाद **'इकोनामिक ऐण्ड पोलिटिकल वीकली'** में प्रकाशित **सी. पी. भाम्बरी** का लेख **'ग्लोबलाइजेशन ऐण्ड सोशल साइन्स'** हमने पढ़ा जो अकादमिक क्षेत्र में घुसपैठ के जरिये एक नये प्रकार के बौद्धिक उपनिवेशन में एन.जी.ओ. की घृणित भूमिका पर रोशनी डालता था। अनुभव में भी हम देख रहे थे कि दिल्ली, मुम्बई, बंगलोर से आगे बढ़कर अब एन.जी.ओ. लखनऊ और गोरखपुर तक के अकादमिक जगत को ग्रस चुका था। प्रोफेसरगण शोध परियोजनाओं की एन.जी.ओ. से फण्डिंग कराने के लिए चप्पलें घिस रहे थे, लखनऊ विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग में 'ऑक्सफेम' ने 'वुमन स्टडीज' में स्नातकोत्तर पढ़ाई शुरू करा दी थी।

जोन रोल्योव्स के लेख और उसके बाद 'दायित्वबोध' के जुलाई-सितम्बर 1999 अंक में प्रकाशित सम्पादकीय लेख ('स्वयंसेवी संगठनों और दाता एजेंसियों का नेटवर्क : एक खतरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र') पढ़ने के बाद एन.जी.ओ. के तंत्र के बारे में हमारी एक स्पष्ट राय बन चुकी थी। अभी हाल ही में हमें **जेम्स पेत्रास** और **हेनरी वेल्तमेयर** की पुस्तक **'ग्लोबलाइजेशन अनमास्क्ड'** मिली जिसमें एक पूरा अध्याय है : 'एन.जी.ओ. : साम्राज्यवाद के चाकर'। इस पुस्तक ने हमें कोई नया तर्क तो नहीं दिया, लेकिन स्वयंसेवी क्षेत्र के बारे में हमारी सुनिर्मित धारणाओं को पुष्ट करने और दृढ़ बनाने का काम किया। इसके साथ ही अखबारी रिपोर्टों, लेखों और विभिन्न वेबसाइटों पर उपलब्ध सामग्री से हमें यह भी पता चला कि अमेरिका और यूरोप के, नोम चोम्स्की जैसे तमाम साम्राज्यवाद विरोधी अकादमीशियन तथा विभिन्न किस्म के रैडिकल जनान्दोलनों से जुड़े लोग लगभग दो दशक पहले से ही तीसरी दुनिया के देशों में एन.जी.ओ. गतिविधियों को साम्राज्यवादी देशों का कुचक्र बताते हुए इनका विरोध करते रहे हैं।

जोन रोल्योव्स, जेम्स पेत्रास और हेनरी वेल्तमेयर, पी.जी.जेम्स, सी.पी. भाम्बरी आदि के लेखों में प्रस्तुत विचारों-तर्कों से जागरूक पाठक-परिचित होंगे, इसलिए उन्हें दुहराना हमारा मन्तव्य नहीं। उपरोक्त विवरण के द्वारा हम यह बताना चाहते थे कि एन.जी.ओ. के बारे में सवाल उठने से धारणा बनाने की मंजिल तक हम किस तरह पहुंचे। हमारा उद्देश्य जनता के विभिन्न हिस्सों के बीच सक्रिय उन क्रान्तिकारी सहयात्रियों के दिमाग में सवाल उठाना और उन्हें सावधान करना है जो एन.जी.ओ. के बारे में उदारतावादी रुख अपनाये हुए हैं। हमारी स्पष्ट राय है कि : (i) एन.जी.ओ. का अधुनातन नेटवर्क विश्व पूंजीवाद के शिखर देशों के 'थिंक टैंकों' द्वारा बनाई गई भूमण्डलीय रणनीति के आधार पर काम कर रहा है, (ii) दुनिया के जिन क्षेत्रों में अतिशोषण के चलते अन्तरविरोध अत्यधिक उग्र और विस्फोटक हो सकते हैं (और हो रहे हैं), उन्हीं क्षेत्रों में एन.जी.ओ. सक्रिय हैं। ये गरीब देशों से निचोड़े गये ''अतिलाभ'' के एक अत्यन्त छोटे से हिस्से से सुधार और 'विकास'' की कार्रवाइयां चलाकर उग्र होते अन्तरविरोधों का शमन करते हैं तथा 'सेफ्टीवाल्व' की भूमिका निभाते हैं। (iii) भूमण्डलीकरण के दौर की साम्राज्यवादी नीतियों एवं कार्रवाइयों का छद्म विरोध संगठित करके स्वयंसेवी संगठन क्रान्तिकारी विरोध के संगठित होने की प्रक्रिया को कई स्तरों पर विघटित, दिग्भ्रमित, विमन्दित एवं निर्बल बनाने की कोशिश करते हैं। (vi) स्वयंसेवी संगठन जनता के अलग-अलग हिस्सों, वर्गों के विखण्डित संघर्षों पर, अलग-अलग मुद्दों पर अलग-अलग संघर्षों पर तथा मुद्दों एवं आन्दोलनों के स्थानीयकरण पर जोर देते हैं। उनके इस काम को विभिन्न उत्तर-आधुनिक विचार-सरणियों, 'सब-आल्टर्न स्टडीज' और नववाममार्गी मुक्त चिन्तकों से सैद्धान्तिक आधार मिलता है। इनका वास्तविक उद्देश्य होता हैविचारधारा के वर्चस्व को खारिज करना और राज्यसत्ता के विरुद्ध केन्द्रित, एक केन्द्रीकृत नेतृत्व के अन्तर्गत वर्ग-संघर्ष को विकसित न होने देना। (v) जो काम पहले संशोधनवादी और सुधारवादी पार्टियां संसदीय और ट्रेड यूनियन राजनीति के दायरे में करती थीं, वही काम आज स्वयंसेवी संगठन व्यापक सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक जन संघर्षों के दायरे में कर रहे हैं। यानी ये पूंजीवादी व्यवस्था की तीसरी-चौथी सुरक्षा पंक्ति की भूमिका अत्यन्त प्रभावी ढंग से निभा रही हैं। (vi) भारत की सर्वहारा क्रान्ति में दलित आबादी और नारी समुदाय की बुनियादी, अपरिहार्य भागीदारी की अपार क्रान्तिकारी सम्भावनाओं को देखते हुए दलित प्रश्न और स्त्री प्रश्न पर गैरवर्गीय, सुधारवादी समझ एवं व्यवहार विकसित करने पर एन.जी.ओ. ने विशेष जोर दिया हैअकादमिक और आन्दोलनात्मक, दोनों ही स्तरों पर। कुछ वामपंथी व्यक्ति और संगठनजो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से स्वयंसेवी संगठनों से जुड़े हैं और सीधे या अपने पारिवारिक सम्पर्कों के जरिये स्वयंसेवी संगठनों से ही जिनका पूरा जीवन वित्तपोषित हो रहा है, इस कार्य में स्वयंसेवी सेक्टर की विशेष सेवा कर रहे हैं तथा उनके 'इण्टेलेक्चुअल

एजेण्ट' की भूमिका निभा रहे हैं। (vii) भूमण्डलीकरण के दौर में, राज्य द्वारा ''कल्याणकारी'' भूमिका के क्रमिक परित्याग से भारी गरीब आबादी के जीवन पर पड़ने वाले विनाशक प्रभाव के जो विस्फोटक प्रभाव सम्भावित थे, उन्हें विघटित करने मे स्वयंसेवी संगठन ''जनपहलकदमी'' और ''ग्रास रूट जनतंत्र'' आदि-आदि के नाम पर विशेष भूमिका निभा रहे हैं। पूंजी के स्वतंत्र तर्क की आत्मघाती परिणतियों से स्वयं पूंजी को और उसकी व्यवस्था को बचाने का जो काम पहले राज्यसत्ता और सुधारवादी संस्थाएं किया करती थीं, अब उन्हें अधिक व्यापक एवं प्रभावी ढंग से एन.जी.ओ. नेटवर्क अंजाम दे रहा है। (viii) उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के परिणामस्वरूप गरीब देशों में जो विकट बेरोजगारी फैल रही है, उसके दबाव को कम करने के लिए स्वयंसेवी संगठन ''स्वावलम्बिता'' और ''जनपहलकदमी'' के नाम पर उत्पादन, निर्माण और सर्विस सेक्टर के बहुतेरे कामों को भी संगठित कर रहे हैं जिनमें नाम मात्र के वेतन, भत्ते और मजदूरी पर काम लिया जाता है और ''मुनाफारहित क्षेत्र'' इस तरह से अतिलाभ निचोड़ने का उपकरण बन जाता है कि श्रमशक्ति बेचने वाले उजरती गुलामों को इसका पता ही नहीं चलता। (x) सुदूरवर्ती क्षेत्रों में सुधार के कार्य संगठित करने, पूंजीवादी तंत्र के लिए सस्ती से सस्ती दरों पर शारीरिक और बौद्धिक श्रमशक्ति उपलब्ध कराने, वर्ग-अन्तरविरोधों को धूमिल बनाने, वर्ग-संघर्ष को विघटित करने या पथच्युत करने तथा हमले, घुसपैठ और ''संशोधन'' की कार्रवाइयों द्वारा क्रान्तिकारी वामपंथ को कमजोर बनाने की कुचेष्टाओं के साथ ही स्वयंसेवी संगठन साम्राज्यवादी देशों के 'इण्टेलेक्चुअल स्पाई' (बौद्धिक जासूस) की भूमिका भी निभाते हैं। देश के अलग-अलग क्षेत्रों की सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक स्थितियों पर ये जो सर्वेक्षण तथा अध्ययन-रिपोर्ट तैयार करते हैं, उनसे साम्राज्यवादी थिंक टैंकों और अन्तरराष्ट्रीय एजेन्सियों को अपनी आम नीति और रणनीति तैयार करने में बहुमूल्य मदद मिला करती है।

एक महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि यदि किसी के पास विश्व-पूंजीवादी तंत्र, राष्ट्रीय पूंजीवादी तंत्र और एन.जी.ओ.-तंत्र का 'मैक्रो-व्यू' न हो, तो अनुभववादी प्रेक्षण या 'माइक्रो-व्यू' के आधार पर वह इस नेटवर्क के समग्र कुचक्र को नहीं समझ पाता। एक आम जागरूक नागरिक और यहां तक कि एन.जी.ओ. में काम करने वाले ईमानदार ग्रासरूट कार्यकर्ता भी जल्दी यह समझ नहीं पाते कि गरीबों के बच्चों को पढ़ाकर या वैकल्पिक स्वास्थ्य-सेवा आदि का काम करते हुए, वे किस प्रकार, अनजाने ही, साम्राज्यवाद की सेवा में सन्नद्ध हैं और क्रान्तिकारी परिवर्तन की क्रिया को बाधित-विमन्दित कर रहे हैं। ज्यादा से ज्यादा उनका ध्यान एन.जी.ओ. मठाधीशों और दाता एजेंसियों के नौकरशाहों के भ्रष्टाचार और विलासी जीवन तक ही जा पाता है, असली ''खूनी हाथ'' पर्दे के पीछे ही छिपे रह जाते हैं। यही नहीं ''समाज-सेवक'' होने का मिथ्याभास उन्हें इस बात का अहसास लम्बे समय तक नहीं होने देता कि वे सबसे सस्ती दरों पर श्रम-शक्ति बेचने वाले, सबसे असुरक्षित किस्म के उजरती मजदूरों की कतार में धकेल दिये गये हैंउन्हीं सर्वहाराओं की कतार में, जिनकी मुक्ति के संघर्ष के विरुद्ध विश्व पूंजीवाद के एजेण्ट उनका इस्तेमाल कर रहे हैं। जब तक उन्हें इस बात का अहसास होता है, वे दलदल में कण्ठ तक धंस चुके होते हैं, उन्हें दूसरा कोई रास्ता नहीं सूझता। या तो वे केंचुए बन गये होते हैं या फिर स्वयं एक छोटा-मोटा घाघ मठाधीश।

दूसरी महत्त्वपूर्ण और खतरनाक बात यह है कि एन.जी.ओ. उन्हीं जगहों को अपना भरती-केन्द्र बनाये हुए हैं, जहां से शुरुआती दौरों में क्रान्तिकारी शक्तियों के भी कैडर भरती करने होते हैं तथा सर्वहारा आन्दोलन के लिए जरूरी प्रारम्भिक बौद्धिक शक्ति जुटानी होती है। विश्वविद्यालय, कालेज आदि ही वे जगहें होते हैं, जहां मध्यवर्गीय युवाओं के रैडिकल हिस्सों को अपने वर्ग-स्वार्थों से टूटकर आम मेहनतकश से जुड़ने के लिए ललकारा जाता है। इन युवाओं के बीच एन.जी.ओ. के एजेण्ट यह नुस्खा बताते हैं कि ''जनसेवा'' के आदर्श के साथ ही वे कुछ ''कमा-धमा'' भी लें। युवाओं के मध्यवर्गीय मन में आदर्श और कमजोरियों के बीच द्वंद्व होता है ओर उन्हें ''वेतनभोगी'' समाजसेवी बनने का सुविधाजनक रास्ता जंच भी जाता है। क्रान्ति के प्रारम्भिक भरती-केन्द्रों पर स्वयंसेवी संगठनों का यह हमला इतना प्रचण्ड है कि इनके साथ ''पवित्र गठबन्धन'' किये हुए कुछ खतरनाक किस्म के चरित्र-स्खलित नकली क्रान्तिकारी संगठनों से जुड़े छात्र संगठन पूर्णकालिक क्रान्तिकारी कार्यकर्ता तो एक नहीं पैदा कर पा रहे हैं, पर एन.जी.ओ. के लिए योग्य कार्यकर्ता खूब पैदा कर रहे हैं। उदाहरण के तौर पर, दिल्ली विश्वविद्यालय में सक्रिय छात्र संगठन **पी.एस.यू.** का ही पिछले लगभग दस वर्षों का रिकार्ड उठाकर देखा जा सकता है। और वे अकेले नहीं हैं। ऐसे संगठन अपना सारा कारोबार ही एन.जी.ओ. के निकट सहकार से चला रहे हैं। यही नहीं, अब ये पूर्णकालिक कार्यकर्ता की अवधारणा को ही 'आउटडेटेड' घोषित कर चुके हैं। इनके नेतृत्व के लोगों के परिवारीजनों के जरिए एन.जी.ओ. से ''संसाधन'' जुट ही जाता है। वैसे भी ''वर्गसंघर्ष के बदलते रूपों'' के मद्देनजर इनका शीर्ष नेतृत्व आज राजनीति से संस्कृति में संक्रमण कर चुका है तथा एक नये इतिहासबोध से लैस होने की भंगिमा अपनाकर दलितवाद, नारीवाद, 'गदर' जैसी फिल्मों और तमाम-तमाम **''उत्तर-'' विचारों** पर सन्धानरत हो चुका है।

और सबसे खतरनाक बात तो यह है कि जनता के बीच शिक्षा, स्वास्थ्य आदि को लेकर सुधारवादी कार्रवाइयों में लगे स्वयंसेवी संगठन, तात्कालिक तौर पर ही सही, लेकिन क्रान्तिकारी संगठनों के सामने पृथक पहचान का प्रश्न एक समस्या के तौर पर खड़ा कर रहे हैं। जनकार्रवाई में लगे क्रान्तिकारी संगठन सुधार के जिन कार्यों को (पुस्तकालय खोलना, स्वास्थ्य शिविर लगाना, रात्रि पाठशाला चलाना, जाति-पांत विरोधी आयोजन, स्थानीय शासकीय संस्थाओं के भ्रष्टाचार या पुलिस-दमन के विरुद्ध आन्दोलन, जानने के अधिकार को लेकर आन्दोलन आदि-आदि) प्रारम्भिक 'फॉर्म' के रूप में अपनाते हैं, लगभग वैसे ही 'फॉर्म' स्वयंसेवी संगठन भी अपनाते हैं। शुरुआती दौर में जनता दोनों का फर्क नहीं समझ पाती और अक्सर जनता को गोलबन्द और संगठित करने की प्रारम्भिक मंजिलों में ही बाधाओं का सामना करना पड़ता है। ऐसा इसलिए भी होता है कि स्वयंसेवी संगठन जनता के भीतर लोभ-लालच और स्वार्थ की संस्कृति का भी प्रचार करते हैं। स्वयंसेवी संगठनों के वेतनभोगी स्वयंसेवकों को देखकर वे क्रान्तिकारी संगठनों के कार्यकर्ताओं के बारे

में भी सोचते हैं कि इन्हें भी किसी एजेन्सी से 'माल-पानी' मिलता ही होगा जिसे ये बताते नहीं हैं। ऐसे में क्रान्तिकारी कार्यकर्ता को जनता के बीच से सहयोग जुटानायहां तक कि किसी आन्दोलन के लिए संसाधन तक जुटाने में बाधा पैदा हो जाती है। यह बाधा असाध्य या दीर्घकालिक तो नहीं है, पर शुरुआती और आज जैसे संकटपूर्ण दौर में परेशानी का सबब तो बनी ही हुई है।

हम समझते हैं कि एन.जी.ओ. के पूरे तंत्र को एक खतरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र मानने और इसके विरुद्ध जमकर प्रचार की, और न सिर्फ प्रचार की, बल्कि जनता को संगठित करने की जरूरत है।

हम मानते हैं कि एन.जी.ओ. में नीचे स्तरों पर खटने वाले आम युवा साम्राज्यवाद के एजेण्ट नहीं हैं। वे अन्य आम युवाओं जैसे हैं। और बहुतेरे तो दिल से जनता के लिए कुछ करना चाहते हैं। उन्हें सच्चाई धैर्य से बताने-समझाने की जरूरत है। जो क्रान्ति के भगोड़े, रिटायर्ड क्रान्तिकारी, कैरियरवादी वाम-बुद्धिजीवी और मुक्त चिन्तक (धूमकेतु-बुद्धिजीवी) इसमें लगे हैं, उन्हें नहीं समझाया जा सकता। वे सब कुछ समझकर कर रहे हैं।

बीहड़ बेरोजगारी के इस समय में तमाम युवा परिवार का पेट पालने के लिए एन.जी.ओ. में काम कर रहे हैं। उनसे नफरत करना एकदम गलत होगा। उन्हें समझाने और ललकारने की जरूरत है कि वे हिम्मत जुटायें और अपना भवितव्य देश के करोड़ों बेरोजगार युवाओं और मेहनतकशों से जोड़ लें। फैक्ट्री गेट पर लाइन लगाकर दिहाड़ी मजदूरी करें, चौराहे पर अण्डे बेच लें, चाय का ठेला लगा लें, अखबार बेचें, ट्यूशन कर लें, गरीब बच्चों का ट्यूशन-सेण्टर खोल लें या कहीं भी उजरती गुलामों की कतारों में शामिल हो लें, पर एन.जी.ओ. की नौकरी न करें क्योंकि एन.जी.ओ. का मूल उद्देश्य ही हैसाम्राज्यवाद की हिफाजत और तरह-तरह से क्रान्ति के संगठित होने की प्रक्रिया को रोकना।

एन.जी.ओ. में काम करने वाले एक मित्र का तर्क था कि ''सरकारी नौकरी भी तो पूंजीवाद की ही सेवा है। इस व्यवस्था में तो हर नौकरी समझौते की मांग करती है।'' उनका यह तर्क ईमानदारी की जमीन से नहीं पैदा हुआ था, इसलिए हमने छूटते ही पूछा कि सभी नौकरियां यदि समान हैं तो बैंक में क्लर्क होने के बजाय क्या वे जासूसी विभाग में काम करना पसन्द करते? या पत्रकार होने और कोठे का दलाल या थाने का मुखबिर होने में क्या कोई फर्क नहीं है? मित्र नाराज हो गये। एक और मित्र हैं। सरकारी नौकरी छोड़कर 'होलटाइमर' हो गये थे। थक गये। वापस लौट गये। पत्रकारिता, कोचिंग सेण्टर चलाने या अकादमिक जीवन में जीने की राय दी गयी। पर वे ''कुछ समय के लिए'' एन.जी.ओ. में गये। वहीं के होकर रह गये। ऊंचे अफसर हो गये। क्रान्तिकारी खुजली अभी भी होती है। इस मसले पर सोचते रहते हैं कि अखिल भारतीय पार्टी कैसे बनेगी, सांस्कृतिक आन्दोलन का क्या होगा... वगैरह-वगैरह। कुछ रिटायर्ड और ''मुक्त'' वामपंथियों की काफीहाउसी मण्डली भी बना ली है। बोले, ''कोई विकल्प नहीं था, इसीलिए तो मैंने एन.जी.ओ. की नौकरी की?'' बहरहाल उस एकमात्र विकल्प से आज वे दिल्ली में दो बेडरूम के सुखी-सम्पन्न घर के स्वामी हैं।

बहरहाल, ऐसे लोगों की चर्चा हम कर ही क्यों रहे हैं? हमें विश्वास है कि ईमानदार, सच्चे जन-सरोकार वाले लोग सोचेंगे।

हम एन.जी.ओ. नेटवर्क के साम्राज्यवादी कुचक्र के भण्डाफोड़ के लिए सभी क्रान्तिकारी बिरादरों से सक्रिय एकजुटता की अपील करते हैं।

*(इस लेख में हम दोनों ने जो भी अनुभव और निष्कर्ष रखे हैं, वे '**नारी सभा** और **'राहुल फाउण्डेशन'** से जुड़े हमारे सभी साथियों के साझा निष्कर्ष हैं। 'क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान' में शामिल अन्य जन-संगठनों के साथियों से भी इस प्रश्न पर विचार-विमर्श चलता रहा है, तथा हमारे अनुभव और तर्क समृद्ध होते रहे हैं। लेख के आम निष्कर्षों से लगभग इन सभी जनसंगठनों के साथियों की आम सहमति है। पर यह लेख हम दोनों का है, अतः इसकी कमियों के लिए पूरी तरह हम दोनों ही जिम्मेदार हैं। मीनाक्षी/शाकम्भरी)*

सर्वहारा अधिनायकत्व...

(पृष्ठ 34 का शेष)

बुनियादी लाइन और नीतियों पर टिके रह सकते हैं और सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत क्रान्ति को जारी रखने पर दृढ़तापूर्वक जमे रह सकते हैं।

अध्यक्ष माओ के निर्देशों के अनुसार सभी स्तरों की पार्टी कमेटियों को लगन और ईमानदारी के साथ सर्वहारा अधिनायकत्व के सिद्धान्त और व्यवहार के अध्ययन को आत्मसात करना चाहिए। नेतृत्वकारी काडरों को इस अध्ययन में अगुवाई करनी चाहिए और पार्टी सदस्यों, काडरों एवं जनता के बीच इसे कारगर ढंग से संगठित करना चाहिए, सैद्धान्तिक टुकड़ियों को सक्रिय करने पर ध्यान देना चाहिए और दो तरह के अन्तरविरोधों के बीच सही-सही भेद करना चाहिए। चौथे नेशनल पीपुल्स कांग्रेस के दस्तावेजों का अध्ययन भी सर्वहारा अधिनायकत्व के केन्द्रीय प्रश्न पर केन्द्रित होना चाहिए। हमें सर्वहारा अधिनायकत्व के खिलाफ केन्द्रित लिन प्याओ की प्रतिक्रियावादी भ्रान्तियों के खिलाफ आलोचना को आगे बढ़ाना चाहिए और उस सामाजिक आधार का आगे विश्लेषण करना चाहिए जिस पर लिन प्याओ की संशोधनवादी लाइन विकसित होती है। हमें कन्फ्यूशियस एवं मेन्शियस के मतों की आलोचना जारी रखना चाहिए, कन्फ्यूशियसपन्थी और कर्मकाण्डवादी पंथों के बीच चले संघर्ष के इतिहास का और समग्रता में वर्ग-संघर्ष के इतिहास का अध्ययन करना चाहिए और उसके ऐतिहासिक अनुभव का सार-संकलन करना चाहिए जिससे सर्वहारा अधिनायकत्व की समझदारी गहरी बनायी जा सके। यह अध्ययन करना आवश्यक है कि सोवियत संघ में संशोधनवाद ने किस प्रकार सत्ता हथियायी और किस प्रकार पहला समाजवादी राज्य एक सामाजिक-साम्राज्यवादी राज्य में बदल गया। हमें सामाजिक जांच-पड़ताल करनी चाहिए, दो वर्गों, सभी क्षेत्रों में दो रास्तों व दो कार्यदिशाओं के बीच जारी ताजा संघर्षों का अध्ययन करना चाहिए और सभी मोर्चों पर संघर्ष-आलोचना-रूपान्तरण की प्रक्रिया को अच्छी तरह अमल में लाना चाहिए, सर्वहारा वर्ग के हिरावल की नेतृत्वकारी भूमिका को आगे बढ़ाना चाहिए और यह देखना चाहिए कि सर्वहारा अधिनायकत्व को सुदृढ़ करने का काम हर बुनियादी इकाई में पूरा किया जाये।

●

संस्कृति चिन्तन

'तीसरी श्रेणी' के बारे में

लू शुन

पिछले तीन वर्षों में कला और साहित्य पर बहुत कम बहसें हुई हैं। सेनापतियों की तलवारों से सुरक्षित अपने को 'वामपंथी' कहने वाले कुछ ऐसे 'सिद्धान्तकारों'[1] को छोड़कर, जो कला की स्वतंत्रता के लिए मार्क्सवाद से तथा 'कम्युनिस्ट दस्युओं' को खत्म करने के लिए लेनिनवाद से दलीलें खोज निकालते हैं, और किसी को मुंह खोलने की आजादी नहीं है। 'कला कला के लिये' के समर्थक लेखक अभी भी 'स्वतंत्र' हैं क्योंकि उन पर रूबल लेने का संदेह किसी को नहीं है लेकिन 'कला के शुभचिन्तक'[2] 'तीसरी श्रेणी' के लेखकों को हमेशा यह कटु आशंका सताती रहती है कि वामपंथी लेखक उन्हें 'पूंजीपतियों के चाटुकार' कहेंगे।

'आधुनिक युग' पत्रिका के तीसरे और छठे अंकों में श्री सु वेन ने 'तीसरी श्रेणी' की ओर से वकालत का बीड़ा उठाया है। (यहां मैं स्पष्ट कर दूं कि मैंने 'तीसरी श्रेणी की ओर से' केवल सुविधा के लिए कहा है। हालांकि मैं जानता हूं कि सु वेन के 'गुट के लेखक' 'शायद', 'न्यूनाधिक' या 'प्रभावित' जैसे अनिश्चय सूचक शब्दों की तरह ही निश्चय सूचक शब्दों को भी नापसन्द करते हैं क्योंकि निश्चित बिल्ला लगाकर कोई स्वतंत्र नहीं रह सकता)। उनका विश्वास है कि वामपंथी लेखक जरा मौका मिलते ही लेखकों को 'पूंजीपतियों के चाटुकार' कह देते हैं, कि वे तटस्थ लोगों को भी पक्षधर समझते हैं और कि तटस्थता छोड़ने पर 'पूंजीपतियों के चाटुकार' कहलाने का खतरा है। उनका कहना है कि 'वामपंथी' तो बिना लिखे भी 'वामपंथी लेखक' बने रहते हैं जबकि 'तीसरी श्रेणी' के लोग लिखना चाहकर भी लिखने की हिम्मत नहीं कर सकते। इसलिए साहित्य की दुनिया में रिक्तता छाई हुई है। फिर भी, साहित्य का एक अंश ऐसा है जो वर्ग संघर्ष की सीमाएं लांघता है और यही भविष्य का साहित्य है, सच्चा और शाश्वत साहित्य है। 'तीसरी श्रेणी' इसी तरह के साहित्य में निष्ठा रखती है। दुर्भाग्य से वामपंथी आचार्यो ने इस प्रकार के साहित्य के प्रति लोगों में भय की भावना पैदा कर दी है और लेखकों को शुरू करने से पहले ही चाटुकार करार दिये जाने की आशंका सताने लगती है। लोगों में ऐसी आशंका हो सकती है और 'तीसरी श्रेणी' को तो खासकर। जैसा कि सु वेन कहते हैं, ऐसे लेखक भी हो सकते हैं जो सिद्धान्त रूप में तो सब समझते हैं लेकिन भावनात्मक रूप से अपने को नहीं बदल पाते। लेकिन जब भावनाएं अपरिवर्तित रहें तो सैद्धान्तिक समझ का स्तर भी उन लोगों से भिन्न हो जायेगा जिनकी भावनाएं पूर्णतया या आंशिक रूप में बदल गई हैं। इससे दृष्टिकोणों की भिन्नता भी पैदा होगी। मेरे विचार से सु वेन का दृष्टिकोण गलत है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि वामपंथी साहित्य के अस्तित्व में आने के समय से ही इसके आचार्यों ने गलतियां की हैं। और जैसा कि श्री सु ने दावा किया है कुछ वामपंथी लेखक लेखन से दूर ही रहते हैं, कुछ वामपंथी से दक्षिणपंथी बन जाते हैं, यहां तक कि 'राष्ट्रवादी साहित्य' की पांतों में शामिल हो जाते हैं अथवा किताबघरों के मालिक शत्रु के जासूस भी बन जाते हैं। लेकिन इसके बावजूद इन भगोड़ों द्वारा लिखा गया वामपंथी साहित्य जिन्दा रहता है। यही नहीं, साहित्य संघर्ष यात्रा में आंदोलन का लगातार विकास होता रहता है और वह अपनी खामियों पर विजय प्राप्त करता जाता है।

श्री सु वेन पूछते हैंतीन वर्षों बाद भी वे अपनी गलतियां क्यों नहीं सुधार पाये हैं?

हमारा उत्तर हैयह सही है कि हमें अपनी गलतियां सुधारनी चाहिए, चाहे अगले तीस वर्ष ही क्यों न लग जायें। लेकिन गलतियां सुधारने के साथ-साथ हम आगे भी बढ़ सकते हैं। हम इतने मूर्ख नहीं हैं कि तब तक प्रतीक्षा करते रहें जब तक कि सारी गलतियां दूर न हो जायें। 'मजाक' में श्री सु वेन ने कहा है कि वामपंथी लेखक पूंजीवादी प्रकाशकों से पैसा लेते हैं। यहां मैं पूरी गम्भीरता से कहना चाहता हूं कि इस सामन्ती-पूंजीवादी समाज के कानूनों द्वारा वामपंथी लेखकों का अभी भी दमन किया जा रहा है, उन्हें जेल भेजा जा रहा है और मारा जा रहा है। सभी वामपंथी पत्रिकाओं पर दमन किया जा रहा है। जो पत्रिकायें कभी-कभार प्रकाशित होती भी हैं उनमें भी बहुत कम आलोचनात्मक समीक्षायें छपती हैं। जो हैं, उनमें थोड़ा-सा मौका मिलते ही लेखकों को 'पूंजीपतियों के चाटुकार' नहीं कहा जाता और 'सहयात्रियों' को अस्वीकार नहीं किया जाता। वामपंथी लेखक स्वर्ग से उतरे देवदूत नहीं हैं और न ही जबर्दस्ती घुस आने वाले विदेशी शत्रु हैं। वे न केवल उन 'सहयात्रियों' को अपने साथ लेना चाहते हैं जिन्होंने कुछ दूर तक उनका साथ दिया है बल्कि उनको भी साथ शामिल करना चाहते हैं जो रास्ते के किनारे पर खड़े दर्शक हैं।

फिर भी हम एक और प्रश्न पूछना चाहते हैं। वामपंथी लेखकों पर आज तो इतना दमन है कि वे अधिक आलोचनात्मक लेख नहीं छपवा सकते। लेकिन अगर वे उस स्थिति में आये तो क्या वे थोड़ा-सा मौका मिलते ही 'तीसरी श्रेणी' के लेखकों को 'पूंजीपतियों का चाटुकार' कहेंगे? मैं समझता हूं कि वामपंथी लेखकों ने अभी तक ऐसा करने की कोई प्रतीज्ञा नहीं की है। संभव है कि वे इससे भी कड़ी आलोचना करें। लेकिन, मेरे विचार से इस प्रकार की भविष्यवाणियां बिल्कुल वैसे ही बेहूदा हैं जैसे

धरती के फट जाने की आशंका से आत्महत्या कर लेना।

यह भी कहा जाता है कि श्री सु वेन की 'तीसरी श्रेणी' के लेखकों ने भविष्य में प्रतिशोध के डर से 'कलम ही रख दी है।' लेकिन क्या इस अनजाने अनिष्ट की कल्पना करके लिखना छोड़ देना उचित है? क्या 'साहित्य के जीवन की शुभकामना' करने वाले इन लेखकों की पकड़ इतनी कमजोर है? क्या दो प्रेमी इस डर से आलिंगनबद्ध न हों कि भविष्य में समाज कभी उनकी निंदा करेगा?

सचाई यह है कि 'तीसरी श्रेणी' के लेखकों ने इसलिए लिखना नहीं छोड़ा है कि वामपंथी आलोचकों ने उनकी कड़ी आलोचना की है। इसका सही कारण यह है कि 'तीसरी श्रेणी' नाम की कोई श्रेणी नहीं होती। और जब यह श्रेणी ही नहीं होती तो 'तीसरी श्रेणी' की कलम भी नहीं होती, उन्हें रखने का सवाल तो दूर रहा।

एक वर्ग समाज में रहकर वर्गो से ऊपर उठा लेखन मानना, युद्धों के समय में रहकर युद्ध भूमि को छोड़ अलग अकेले खड़ा रहना, वर्तमान में रहते हुए भविष्य के लिए लिखनायह मात्र एक भ्रम है। वास्तविक जीवन में ऐसे लोग नहीं मिलते। ऐसा बनने का प्रयास बिल्कुल वैसे ही बेमानी है जैसे जमीन पर पड़ा व्यक्ति स्वयं अपने बाल खींचकर खड़ा होने का प्रयास करे।

अतः यह तीसरी श्रेणी भी वर्ग का अतिक्रमण नहीं कर सकती। जब श्री सु स्वयं वर्ग-आलोचना का पूर्वानुमान करते हैं तो कोई लेखन वर्ग-हितों से अलग कैसे हो सकता है? वह संघर्ष से भी बच नहीं सकता। श्री सु 'तीसरी श्रेणी' की ओर से विरोध प्रकट करते हैं और 'विरोध' के दोषी भी नहीं बनना चाहते। क्योंकि वर्तमान का अतिक्रमण कर भविष्य के लिए वर्गो से ऊपर उठा साहित्य नहीं लिखा जा सकता, इसलिए उन्हें वामपंथी आलोचना की चिंता सताने लगती है।

यह निश्चय ही बड़ी दयनीय स्थिति है। यह स्थिति इसलिए पैदा होती है क्योंकि कपोल-कल्पनाएं कभी सत्य नहीं हो सकतीं। यदि मामलों को उलझाने वाला वामपंथी साहित्य नहीं होता तो 'तीसरी श्रेणी' भी नहीं होती, उनके द्वारा लेखन की बात तो दूर रही। लेकिन श्री सु ने ऐसे निरंकुश वामपंथी साहित्य की कल्पना की ली है जो उनकी कल्पित 'तीसरी श्रेणी' को अस्तित्व में न आने देने का अपराधी है और भविष्य के साहित्य के सृजन में बाधा डालता है।

वामपंथी लेखक असाधारण व्यक्ति नहीं हैं। वे चित्र पुस्तकें लिखते हैं तथा गीति नाट्यों के आलेख तैयार करते हैं। लेकिन वे उतने बेकार नहीं है जितना श्री सु वेन समझते हैं। वे तोल्स्तोय और फ्लाबेयर को भी चाहते हैं। लेकिन वे ऐसे तोल्स्तोयों और फ्लाबेयरों को नहीं चाहते जो 'भविष्य के लिए लिखने का प्रयास कर रहे हैं' (क्योंकि आज उनकी कोई जरूरत नहीं है)। तोल्स्तोय और फ्लाबेयर ने अपने समकालीनों के लिए लिखा। वर्तमान भविष्य का निर्धारण करता है और जो आज के लिए अर्थवान है, वह भविष्य के लिए भी अर्थवान हो सकता है। तोल्स्तोय ने विशेष रूप से किसानों के बारे में कहानियां लिखीं लेकिन उन्होंने स्वयं को 'तीसरी श्रेणी' का लेखक नहीं कहा। पूंजीपति वर्ग के कटु आक्षेप भी उनकी लेखनी को नहीं रोक सके। वामपंथी लेखक इतने मूर्ख नहीं हैं कि यह भी नहीं समझ सकें कि चित्र-पुस्तकों से तोल्स्तोय या फ्लाबेयर पैदा नहीं हो सकता। लेकिन उनका निश्चित विश्वास है कि इससे माइकेलेंजलो या लियोनार्डो द विंची जैसे महान कलाकार पैदा किये जा सकते हैं। आज माइकेलएंजलो के चित्रों के विरुद्ध कोई व्यक्ति एक शब्द भी नहीं कहता, लेकिन क्या वे धार्मिक प्रचार का साधन और 'ओल्ड टेस्टामेंट' की चित्र पुस्तक की तरह नहीं थे? उनका निर्माण भी उन कलाकारों ने अपने समकालीनों के लिए ही किया था।

संक्षेप में, श्री सु वेन का यह कहना गलत नहीं है कि तीसरी श्रेणी को दूसरों के धोखे में आने या दूसरों का अनुकरण करने के बजाय लिखने का भरसक प्रयास करना चाहिए।

और अधिक सच्चाई से वे इस बात पर बल देते हैं कि 'कार्य के लिए साहस के पहले यह जरूरी है कि व्यक्ति स्वयं में विश्वास करे।'

लेकिन इसके बावजूद श्री सु वेन यह आरोप लगाते हैं कि वामपंथी आचार्यो द्वारा आलोचना की आशंका ने 'तीसरी श्रेणी' के बहुत से महत्त्वपूर्ण और सामान्य लेखकों को अपना लेखन बन्द करने के लिए बाध्य कर दिया है।

'अब इसका क्या उपाय है?'

10 अक्टूबर, 1932

संदर्भ तथा टिप्पणियां

1. हु चिउयुआन और कुछ त्रात्स्कीवादी। अपने को मार्क्सवादी कहकर कला और साहित्य की स्वतंत्रता की वकालत करते थे और त्रात्स्कीवादियों के साथ मिलकर चीन की मजदूर-किसान लाल सेना को 'दस्यु' कहकर निंदा करते थे।
2. सु वेन ने वामपंथी लेखकों द्वारा मजदूरों और किसानों के लिए चित्र-कहानियों के जनप्रिय लेखन का विरोध किया था। उसने कहा'जो साहित्य के शुभचिंतक हैं वे इसका विरोध अवश्य करेंगे।

अनुवाद : कर्णसिंह चौहान

'तीसरी श्रेणी' के बारे में कुछ और बातें

ताई वाङ शू (एक कवि का नाम) ने फ्रांस से एक पत्र भेजा है जिसमें उन्होंने यह बताया है कि किस प्रकार आंद्रे जीद फ्रांसीसी ए.ई.ए.आर. (एक क्रान्तिकारी लेखक संघ) में शामिल हुए और उन्होंने 21 मार्च को एक बहुत बड़ी जनसभा में जर्मन फासीवाद का कड़ा विरोध किया। उन्होंने जीद के भाषण का विवरण दिया है जो 'माडर्न टाइम्स' के जून अंक में छपा था। फ्रांस के लेखकों द्वारा न्याय की तरफदारी करना कोई असामान्य बात नहीं है। जोला द्वारा ड्रेफस की तीव्र हिमायत करना और अनातोल फ्रांस का जोला की समाधि पर भाषण इसके पुराने उदाहरण हैं। रोमा रोलां द्वारा युद्ध की निन्दा करना हाल का उदाहरण है। यह घटना मुझे अधिक उत्साहित कर रही है क्योंकि यह सवाल बहुत ही सामयिक है और मैं भी फासीवाद से घृणा करता हूं। अपनी रिपोर्ट में श्री ताई ने चीन के वामपंथी लेखकों की मूर्खता और क्रूरता, जो एक सामंत से मिलती-जुलती है, का जिक्र किया है। उस पर मैं कुछ शब्द कहना चाहूंगा। मुझे गलत न समझा जाये और इसका यह अर्थ न निकाला जाये कि मैं जर्मनी की तरह चीन की 'तीसरी श्रेणी' से दलित वर्ग की सहायता की उम्मीद में कोई सफाई पेश कर रहा हूं। मेरा ऐसा कोई उद्‌देश्य नहीं है। असल में चीन में पुस्तकों

और पत्र-पत्रिकाओं को जलाना, पुस्तकों की दुकानों का बंद करना और लेखकों की हत्याएं करना या उन्हें जेल में बंद करना आदि घटनाएं जर्मनी के 'श्वेत आतंक' से बहुत पहले हुई और सारी दुनिया के क्रान्तिकारी लेखकों ने इनका विरोध किया। यहां मेरा उद्‌देश्य पत्र में दी हुई कुछ बातों को उठाना और उन पर विचार करना है।

जीद किस प्रकार फासीवाद विरोधी आन्दोलन में शामिल हुए, इसका वर्णन करने के बाद हमारे संवाददाता लिखते हैं :

''फ्रांसीसी साहित्यकारों में जीद को हम 'तीसरी श्रेणी' का लेखक कह सकते हैं। 1891 के बाद से जीद अपनी कला के प्रति निष्ठावान रहे हैं। लेकिन कला के प्रति निष्ठावान लेखक जरूरी तौर पर 'पूंजीवादियों के साथी' नहीं होते और फ्रांस में क्रान्तिकारी लेखक इस प्रकार के मूर्खतापूर्ण विचार नहीं रखते (इसे चतुर युक्ति कहना अधिक बेहतर होगा)। यही कारण था कि जीद लोगों की उत्साह भरी जय-जयकार के बीच बोले।'

दूसरे शब्दों में 'अपनी कला के प्रति निष्ठावान लेखक' 'तीसरी श्रेणी' में आता है और चीन के क्रान्तिकारी लेखक बहुत मूर्ख हैं जो ऐसे व्यक्तियों को पूंजीपतियों के साथी कहते हैं। लेकिन अब जीद ने सिद्ध कर दिया है कि यह सही नहीं है।

यहां दो प्रश्न पैदा होते हैं, जिनका उत्तर दिया जाना चाहिए।

पहला प्रश्न है कि क्या चीन के वामपंथी आचार्यों ने वास्तव में 'अपनी कला के प्रति निष्ठावान' सभी लेखकों को 'पूंजीपतियों के साथी' समझा है? जहां तक मैं समझता हूं ऐसी बात नहीं है। वामपंथी आचार्य चाहे कितने ही मूर्ख हों लेकिन फिर भी ऐसा नहीं है कि ये यह न समझते हों कि 'कला-कला के लिए' आन्दोलन की शुरुआत कुछ पुरानी सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध क्रान्ति के रूप में हुई थी। लेकिन यदि हम इस पुराने नारे का इस्तेमाल नये संघर्षशील साहित्य के विकास में प्रकट और अप्रकट रूप में बाधा डालने के लिए करते रहे तो यह नारा न केवल 'पूंजीपतियों का साथी' बल्कि प्रतिक्रियावादी भी बन जायेगा। 'अपनी कला के प्रति सभी निष्ठावान लेखकों' को एक ही श्रेणी में नहीं रखा जा सकता क्योंकि प्रत्येक श्रेणी के लेखकों में अपना कुछ निजी होता है जो उनके वर्ग की देन होता है। जो अपनी कला के प्रति निष्ठावान होते हैं, वे अपने वर्ग के प्रति भी निष्ठावान होते हैं, चाहे वे बुर्जुआ वर्ग से सम्बन्ध रखते हों या सर्वहारा वर्ग से। यह बिल्कुल स्पष्ट और प्रत्यक्ष वास्तविकता है जिसे वामपंथी आचार्य समझने में भूल नहीं कर सकते। लेकिन जब श्री ताई 'अपनी कला के प्रति निष्ठावान' को 'कला, कला के लिए' के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं तो निश्चय ही उनका उद्‌देश्य वामपंथी आचार्यों की निरी मूर्खता को ही प्रदर्शित करना है।

दूसरी बात यह है कि क्या जीद को उसी श्रेणी का लेखक कहा जा सकता है जिसे चीन में 'तीसरी श्रेणी' कहा जाता है। मैंने जीद की पुस्तकें नहीं पढ़ी हैं इसलिए मुझे उसकी रचनाओं पर टिप्पणी करने का कोई हक नहीं है। मैं समझता हूं कि हालांकि लेखन और भाषण अलग विधायें हैं लेकिन उनमें निहित विचार एक होते हैं। मैं श्री ताई द्वारा भेजे गये उनके भाषण में से दो उद्धरण प्रस्तुत करता हूं :

'कोई व्यक्ति कह सकता है : 'सोवियत संघ में भी तो यही हो रहा है।' शायद यह सही हो, लेकिन उनका लक्ष्य एमदम भिन्न है। नये समाज की स्थापना करने तथा उन लोगों को आजादी देने, जिनका हमेशा दमन किया गया है और जिनकी आजादी छीन ली गयी है, में थोड़ी-बहुत ज्यादती अपरिहार्य है।'

'ऐसा क्यों है कि जिस बात का मैंने कभी विरोध किया था, आज मैं उसका समर्थन कर रहा हूं। ऐसा इसलिए है क्योंकि जर्मनी के आतंकवाद द्वारा जीवन में अतीत की निहायत घिनौनी स्थितियां पैदा कर दी गई हैं जबकि सोवियत संघ के सामाजिक निर्माण में भविष्य के लिए बहुत सी आशाओं का संदेश मिलता है।'

यह काफी स्पष्ट है। तरीका तो वही है, लेकिन एक स्थिति में वह इस तरीके का समर्थन और दूसरी में विरोध इसलिए करता है क्योंकि उसका उद्‌देश्य एक-दूसरे से भिन्न है। सोवियत संघ में अक्टूबर क्रान्ति के बाद सेरापियन बंधुओं और उनके साथियों को, जो कला पर बहुत बल देते थे, 'सहयात्री' कहा गया जबकि वस्तुतः उनका रवैया इतना सकारात्मक नहीं था। इस वर्ष चीन में 'तीसरी श्रेणी' सम्बन्धी लेखों का एक विशेष ग्रंथ छपा है। इस ग्रंथ को देखकर क्या लगता है कि जीद और स्वयं को 'तीसरी श्रेणी' कहने वाले हमारे लेखकों में कोई बात समान भी है? यदि ऐसा नहीं है तो मैं पूरे विश्वास के साथ यह कह सकता हूं कि आंद्रे जीद 'तीसरी श्रेणी' के लेखक नहीं हैं।

जिस प्रकार मैंने जीद को चीन की 'तीसरी श्रेणी' जैसा लेखक मानने से इंकार किया है उसी प्रकार ताई वा ङ शू यह मानते हैं कि चीन और फ्रांस के वामपंथी लेखकों में वही अंतर है जो कि बुद्धिमत्ता और मूर्खता में होता है। जर्मनी के वामपंथी कलाकारों के प्रति तीव्र सहानुभूति प्रकट करने के लिए हुई सभा में भाग लेने के बाद उन्होंने चीनी वामपंथी लेखकों की मूर्खता और क्रूरता का स्मरण किया। इसके बाद वे अपनी भावनाओं को नियंत्रित नहीं रख पाये।

'मुझे नहीं मालूम कि चीन में जर्मन फासिस्टों के आतंकवाद पर कोई प्रतिक्रिया हुई है। हमारे सेनाध्यक्ष सामंतों की तरह ही हमारे लेखक और कलाकार गृहयुद्ध में आनन्द ले रहे हैं। जबकि फ्रांस के क्रान्तिकारी लेखकों ने जीद का साथ दिया है, हमारे वामपंथी लेखक अभी भी 'तीसरी श्रेणी' को अपना एकमात्र शत्रु समझ रहे हैं।'

इसका खंडन करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि सचाई स्वयं बोलती है। यहां थोड़ी-बहुत प्रतिक्रिया हुई, लेकिन यह फ्रांस नहीं है और यहां इस प्रतिक्रिया ने एक भिन्न रूप लिया। और कुछ समय से पत्रिकाओं में ऐसा कोई लेख नहीं छपा है जिसमें 'तीसरी श्रेणी' को एकमात्र 'शत्रु' बताया गया हो। गृहयुद्ध समाप्त हो चुका है और युद्ध का वातावरण खत्म हो गया है। ताई वाङ शू ने गलत अनुमान लगाया है।

लेकिन क्या चीन के वामपंथी लेखक उतने बुद्धिमान हैं जितने फ्रांस के लेखक श्री ताई को लगते हैं? मेरे ख्याल से ऐसा नहीं है और न ही ऐसा होना चाहिए। इससे पहले कि यह आवाज दब जाये, 'तीसरी श्रेणी' के बारे में बहस को फिर से शुरू करने तथा उसका विस्तार करने की आवश्यकता है। श्री ताई को फ्रांसीसी क्रान्तिकारी लेखकों के रहस्य की झलक मिल गई है और वे यह महसूस करते हैं कि संकट के समय में 'तीसरी श्रेणी' के साथ हाथ मिलाना चतुराईपूर्ण युक्ति हो सकती है लेकिन मैं यह मानता हूं कि केवल 'युक्तियों'

(शेष पृष्ठ 68 पर)

पुरातन और नवीन का संघर्ष

अलेक्सान्द्र हर्ज़ेन

जर्जर और पराजित तुरन्त ही कब्र में नहीं पहुंच जाता। आत्मरक्षा की सहज भावना, जो हर उस चीज में निहित है जिसका अस्तित्व है, विनाश के कगार पर खड़ी वस्तु के अधिकतम काल तक जीवित रहने के प्रयास से प्रेरित प्रतिरोध का आधार है। यही है वह सहज भावना, जो हर उस चीज की अन्त तक रक्षा करना चाहती है जो कभी जीवन-मय थी। मितव्ययिता का सार्वभौम नियम किसी भी चीज को तब तक कब्र में नहीं जाने देता जब तक कि वह पूर्णतः निस्सत्व न हो जाये। ऐतिहासिक जगत में रूढ़िवाद जीवन का उतना ही सच्चा तत्व है जितना कि निरन्तर गतिशीलता और परिवर्तन। वह अस्तित्वपूर्ण प्रत्येक वस्तु का, उसके अधिकारों की मान्यता का, पूरे जोरों से समर्थन करता है। इसके प्रतिकूल प्रगति की भावना जो वर्तमान है उसके प्रति असन्तोष फैलाती है; बुद्धि के विकास की नयी अवस्था के अनुसार वह नये स्वरूप की खोजबीन करती है। चीजों की मौजूदा व्यवस्था से उसका सांस घुटता है। उससे मुक्त होने के लिए वह छटपटाती है, विक्षोभ प्रकट करती है। और ऐतिहासिक विकास, इन दोनों शक्तियों के प्रभाव तथा अनुशासन में चलता है; उन्हें एक-दूसरे के विरुद्ध कांटे पर रखता है। इस प्रकार अपने-आपको वह एकांगी होने से बचाता है। स्मृति और आशा, यथास्थिति और प्रगतिये इतिहास के दो विरोधी तत्व हैं, उसके दो कूल हैं। यथास्थिति इस बात की वास्तविक स्वीकृति पर आधारित है कि प्रत्येक रूप, जो उपलब्ध हो चुका है जीवन का सच्चा परिधान है, वह एक ऐसा सत्य है जिसे उसके अस्तित्व ने अकाट्य रूप में सिद्ध कर दिया है। यह इस उचित भावना पर आधारित है कि प्रत्येक ऐतिहासिक क्षण में मनुष्य उस सबका स्वामी होता है जो जीवन प्रदान करता है; और इसलिए वर्तमान अधिकारों का भोग करने के लिए उसे भविष्य की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। किन्तु रूढ़िवादी भावना मनुष्यों में अतीत की चिरपोषित व सुप्रिय स्मृतियों को जगाती हैं; उन्हें पूर्वजों के उस घर में वापस लौट चलने के लिए प्रेरित करती है, जहां जीवन निश्चिन्ततापूर्ण व बसन्ती आभा से मण्डित था। वह भूल जाती है कि वह घर टूट-फूट गया है, अन्धकारमय हो गया है। यह भावना स्वर्ण युग से ही प्रेरणा लेती है। अब पूर्णता भी स्वर्ण-युग की आंकाक्षा करती है और इस बात का प्रतिरोध करती है कि निश्चित को परमपूर्ण की मान्यता न दी जाये। वह अतीत और वर्तमान के सत्य को, सापेक्ष सत्य मानती हैजो चिरन्तन अस्तित्व का दावा नहीं कर सकता और जो अपनी नश्वरता द्वारा अपनी अपूर्णता को सिद्ध करता है। पुराने दिनों से यह भावना भी प्रेम करती है, किन्तु उन्हें भविष्य की कल्पना तथा अपनी पवित्रतम आकांक्षाओं का लक्ष्य नहीं बनाना चाहती। बहु-देवताओं की उपासक दुनिया, सहज-स्फूर्त और अपनी जाति में पूर्णतया आबद्ध, सदा स्मृतियों के मोहनी जादू में डूबी रही। किन्तु, इसके प्रतिकूल, ईसाई धर्म ने आशा को अपना सम्बल बनाया। यद्यपि अनिवार्यतः स्मृति पर विजय सदा आशा की होती है, तो भी बहुधा दोनों में घनघोर तथा दीर्घकालीन संघर्ष होता है। पुरानी दुनिया भीषण प्रतिरोध उपस्थित करती है, जो कि स्वाभाविक है : क्या यह सम्भव है कि जीवन उन रूपों के दामन से न चिपके जो उसने प्राप्त किये हैं? नये रूपों से अभी तक उसकी जानकारी होती नहींवे रूप अभी सुनिहित होते हैं। किसी के लिए यह स्वीकार करना कि उसके दिन अब लद चुके हैं अपने अस्तित्व से इन्कार करना है, जो लगभग असम्भव है। पुराना निजाम जिसे विदा होना है, पूर्णतया विकसित, अमल में लाया हुआ अैर लोगों के हृदयों में गहरी जड़ें जमाये होता है। इसके प्रतिकूल नया अभी अव्यक्त और शून्य है। उसके पास न रंग-रूप है, न परिधान, जब कि पुराना समृद्ध और शक्तिशाली होता है। फिर, नये की रचना करने के लिए अभी माथे का पसीना बहाने की जरूरत होती है, जबकि पुराना पहले से मौजूद होता है, आदत की टेक लिये दृढ़ता से स्थित होता है। नये का अभी अनुसन्धान करना होता है, उसके लिए अपने को साधने की आवश्यकता होती है, वह आत्मत्याग की मांग करता है। इसके प्रतिकूल पुराने को बिना किसी खोदबीन के स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि वह सामने मौजूद है, वह ऐसा तथ्य होता है जिसकी प्रत्यक्ष सत्ता को लोग मानते हैं। नये को लोग सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, उसका रूप-रंग अभी लड़कपन में डूबा होता है, जबकि पुराने के नाक-नक्श और झुर्रियों से वे इतने परिचित होते हैं कि वे उन्हें चिरन्तन मालूम होते हैं। स्मृतियों का मोह और उनकी शक्ति कभी-कभी नये की ललक पर हावी हो जाती है,अतीत का मोह लोगों पर इस तरह छा जाता है कि किसी भाव भी वे उसे नहीं छोड़ते। कारण यह कि उसी में उन्हें अपना भविष्य दिखाई देता है।

धर्म-विमुख जूलियन ऐसी ही विभूति था। उसके जीवन-काल में पुरानी दुनिया के जीवन-मरण का प्रश्न अपनी भयावह तीव्रता से सामने आया : उसे टाल जाना असम्भव था। प्रश्न के तीन सम्भव समाधान दिखाई दिये : बहु-देवतावाद अर्थात पुराने दिनों में लौट जाना;

स्मृतियां और हताशा अर्थात अनास्थावादन अतीत और न भविष्य; सबसे अन्त में ईसाई-धर्म ग्रहण और इसके साथ आने वाली दुनिया में प्रवेशमरे हुओं को अपने मुर्दे दफनाने के लिए पीछे छोड़ देना। जूलियन अपनी धुन का धुनी दृष्टा था; साहस और स्फूर्ति का पुंज। शुरू में, कोई व्यावहारिक कार्य न होने के कारण, उसने अपने-आपको यूनानी ज्ञान के अध्ययन में पूर्णतया निमग्न कर दिया। फिर, उसने सुदूर लुतेतिया की शरण ली। वहां पहुंचकर अपने युग के ज्वलन्त प्रश्न को उसने उठाया और अतीत के पक्ष में फैसला दिया...जूलियन अत्यन्त सदाचारी और ऊंचे गुणों का आदमी था। ऐसा प्रतीत होता था, मानो पुरानी दुनिया, पवित्र और शुभ्र होकर, उसमें दीप्त हो उठी है। ऐसा मालूम होता था मानो दिव्य और खरी मौत पाने के लिए, सचेत रूप में, उसने यह दिव्य-निखार प्राप्त किया हो। उसकी दृढ़ता में कोई कमी नहीं थी, उत्कृष्टता की सीमा को वह छूता था, प्रखर प्रतिभा और बुद्धि का वह धनी था, लेकिन सब बेकार। अतीत को फिर से जिलाना नितान्त असम्भव था। जूलियन जैसी शक्ति के हिमालय भी, उस समय जब अपने युग की गति के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता हे, राई बनकर रह जाते हैं... अपार शक्ति का वह धनी था, फिर भी वह कोई प्रभाव पैदा नहीं कर सका, उसकी शक्ति कारगर सिद्ध नहीं हो सकी। इससे सहज ही समझ में आ सकता है कि अभी अंकुरित होते हुए भविष्य के विरुद्ध मृत, किन्तु अभी तक न दफनाये गये, अतीत के प्रयास कितने निष्फल होते हैं...

प्रत्येक आकस्मिक परिवर्तन पराजित पक्ष के चिन्ह छोड़ जाता है नव अफलातूनवादी भी इसी कोटि के जीव थे... वे अपने एक अलग दार्शनिक साहित्यिक ढंग से अतीत को फिर से जीवित करना चाहते थे। उन्होंने अन्य सबसे अधिक धोखा खाया। वे अतीत में अपने भविष्य का आदर्श देखते थे, लेकिन अतीत के ही बाने में। अगर उस समय जबकि नव-अफलातूनवाद अपने पूरे उभार पर थाक्षण भर के लिए ही सहीएक मुद्दत से दफन हुआ यह जीवन अपनी कब्र में से उठकर आ सकता तो उसके उपासक भी उसे देखकर स्तब्ध रह जाते। और यह इसलिए नहीं कि वह **अपने समय में बुरा था**, बल्कि इसलिए कि उसका **समय बीत चुका था**।...जो हो, अतीत में बसने वाले लोगों को गहरी वेदना का शिकार होना पड़ता है। अपने चारों ओर के वातावरण से वे उतने ही दूर होते हैं जितने कि वे लोग जो केवल भविष्य में ही विचरते हैं। प्रत्येक क्रान्ति अपने साथ इस तरह की वेदनाओं को लेकर आती है। जीवन के नये युग से पहले का काल बड़ा त्रासदायक और असहनीय मालूम होता है। प्रत्येक समस्या एक दुखद करवट लेती है। लोग बेहूदा हलों की ओर, जिससे भी उन्हें कुछ तसल्ली मिले, भूखों की तरह लपकते हैं। एक ओर अन्ध दुराग्रह, दूसरी ओर अन्ध अनास्था; एक ओर बेसिर-पैर की आशाएं, दूसरी ओर बेसिर-पैर की निराशा! दोनों एक साथ, हाथ में हाथ लिये, विचरण करती हैं। त्रासदायक उत्सुकता, अप्रत्याशित के घटने की बेचैन प्रतीक्षा, जबकि प्रकटतः कुछ भी नहीं घट रहा होता!... मध्यवर्ती पीढ़ियों का भाग्य, जो न इस दुनिया की होती हैं न उसकी, और भी दुखद होता है...अतीत की कुदृष्टि भी उन पर सबसे अधिक पड़ती है, और भविष्य के सुखों से भी वे वंचित होती हैं!...प्राचीन संसार को, अपने जीवन की अन्तिम शतियों में, भरपूर मात्रा में, यह कड़वा प्याला पीना पड़ा। इतना निर्मम, इतना हिंस्र परिवर्तन इतिहास ने पहले कभी नहीं देखा था। केवल ईसाई धर्म उसे बचा सकता था। किन्तु बहु-देवोपासक दुनिया के वह इतना विरुद्ध था, पुराने विश्वासों और मान्यताओं को इतनी बेरहमी से उसने रद्द किया कि लोगों के लिए अपने अतीत से नाता तोड़ना असम्भव हो गया। इंजील के शब्दों में, उन्हें नया जन्म लेना था। इसके बिना वे तब तक प्राप्त तमाम सत्यों और नियमों के सारतत्व से अपने को मुक्त नहीं कर सकते थे। और ऐसा करना अत्यन्त कठिन था। व्यावहारिक बुद्धि जितनी गहरी जड़ें जमा लेती हैं, सकारात्मक कानूनी विधान भी उतनी गहरी जड़े नहीं जमा सकता। किन्तु नयी दुनिया अतीत से इस सम्बन्ध-विच्छेद के बाद ही अपना सूत्रपात कर सकती थी। नव-अफलातूनवादी सुधारक थे। वे पुरानी इमारत की मरम्मत करके उस पर सफेदी पोतना चाहते थे। अतीत का त्याग किये बिना ही वे नये से लाभ उठाना चाहते थे। और वे विफल हुये। ''वह जो मुझसे अधिक अपने माता-पिता को चाहता है, मुझे नहीं पा सकता!''....

●

'तीसरी श्रेणी' के बारे में . . .

(पृष्ठ 66 का शेष)

पर भरोसा करना काफी नहीं है। चातुर्यपूर्ण कार्रवाई के लिए सही विचारों का होना भी जरूरी है। जीद के भाषणों को पढ़कर लगता है कि वह राजनीति से कटे नहीं हैं और उन्हें एकदम 'तीसरी श्रेणी' का लेखक कहना गलत है। हम कोई रहस्यपूर्ण युक्तियां अपनाए बगैर उनका स्वागत कर सकते हैं। लेकिन चीन की तथाकथित 'तीसरी श्रेणी' एक जटिल मामला है।

'तीसरी श्रेणी' से मूल आशय उन लोगों से लिया जाता था जो दो विरोधी पक्षों अथवा उनके बीच संघर्ष से अलग रहते हों। लेकिन वास्तव में ऐसे लोग हो ही नहीं सकते। लोग या तो मोटे होते हैं या पतले। सिद्धान्त रूप में ऐसे लोग हो सकते हैं जो न तो मोटे हैं और न पतले, लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं होता। जब तुलना की जाती है तो लोगों को या तो मोटा कहा जाता है या पतला। कला जगत में 'तीसरी श्रेणी' की भी यही स्थिति है। हालांकि कलाकार निष्पक्ष और अप्रतिबद्ध लग सकते हैं लेकिन वे थोड़ा-बहुत किसी न किसी पक्ष के प्रति झुके अवश्य रहते हैं। सामान्य तौर पर वे इस झुकाव को छिपाये रहते हैं लेकिन संकटकाल आने पर वे स्पष्ट रूप से अपना पक्ष उजागर कर देंगे। जीद ने अपनी वामपंथी प्रवृत्तियां उजागर की हें और दूसरे लोग भी अपने द्वारा कहे जाने वाले कुछ शब्दों से इसे उजागर कर देंगे। इस भीड़ में से कुछ लोग क्रान्ति के साथ कदम मिलाकर बढ़ेंगे और कुछ लोग क्रान्ति को नुकसान पहुंचाने, उसे कमजोर बनाने या उसमें तोड़-फोड़ करने का प्रयास करेंगे। इन लोगों के विश्लेषण का कार्य वामपंथी आचार्यों पर है।

यदि वह सेनाध्यक्ष-सामन्तों के बीच गृहयुद्ध जैसी ही स्थिति है तो वामपंथी आचार्यों को यह लड़ाई जारी रखनी चाहिए, ताकि दो पक्षों के अंतर को उजागर किया जा सके और उन लोगों को समाप्त किया जा सके जो पीठ में छुरा भोंकते हैं।

4 जून 1933

●

युद्धोन्माद के बीच पोटो

दिशा छात्र संगठन तथा अन्य संगठनों के कार्यकर्ता दिल्ली में पोटो के खिलाफ प्रदर्शन करते हुए

11 सितम्बर की घटना ने अमेरिकी साम्राज्यवाद ही नहीं, बल्कि दुनिया भर के लुटेरे शासक वर्गों के लिए संकटमोचक का काम किया। 11 सितम्बर को न्यूयार्क स्थित वर्ल्ड ट्रेड सेण्टर और वाशिंगटन स्थित पेण्टान मुख्यालय पर हुए हमले में हजारों लोगों के मारे जाने पर जब दुनिया का जन समुदाय अपनी संवेदनायें व्यक्त कर रहा था, ठीक उसी वक्त साम्राज्यवाद इस घटना के बहाने अपना 'छुपा एजेण्डा' लागू करने की साजिश रच रहा था। मौत के सौदागर दुनिया भर में सक्रिय हो रहे थे।

अमेरिकी पूंजीवाद ने अपने संकटों से उबरने के लिए तबाही-बर्बादी की जो योजना बनाई उसे नाम दिया गयाआपरेशन इन्फाइनाइट जस्टिस (अंतिम न्याय युद्ध)। साम्राज्यवादी लूट का शिकंजा कसने और अधिक मुनाफा निचोड़ने के लिए अधिक निरंकुश तंत्र की आवश्यकता के मद्देनजर जनता के जनतांत्रिक अधिकारों में कटौती करना, उसके विरोध को कुचलना जरूरी था तो इस ''सुअवसर'' का लाभ उठाकर जो योजना बनाई गयी उसको नाम दिया गयाआतंकवाद विरोधी अभियान।

इस तरह दुनिया से आतंकवाद मिटाने की मुहिम के लिए आतंकवादियों का सरगना निकल पड़ा। अमेरिका ने कहा कि जब तक 11 सितम्बर के दोषी नहीं पकड़े जाते तब तक अफगानिस्तान में उसका हमला जारी रहेगा। ओसामा बिन लादेन को अफगानिस्तान में ही होना था क्योंकि अफगानिस्तान में अपनी चौकी स्थापित करने और कैस्पियन क्षेत्र के प्राकृतिक तेल गैस के भण्डारों के दोहन के लिहाज से अमेरिका की निगाह पहले से ही अफगानिस्तान पर लगी थी। दक्षिण एशिया में अपने मंसूबे पूरे करने के लिहाज से भी अफगानिस्तान की सामरिक चौकी का रणनीतिक महत्त्व है। पहले ओसामा बिन लादेन और तालिबान को पैदा कर अमेरिका ने अपने हित साधने चाहे थे। 11 सितम्बर की घटना के ''दैवी वरदान'' से अब वह लादेन और तालिबान को खत्म करने के बहाने अपने हित साध रहा है।

सो, 11 सितम्बर की आड़ में अपने दुष्कर्मों, कुकृत्यों और नापाक मंसूबों को छुपाने के लिए युद्धोन्माद का माहौल साम्राज्यवाद और इसके जूनियर पार्टनरों ने बनाना शुरू कर दिया। हिन्दुस्तान की भाजपा गठबंधन सरकार के लिए तो यह मौका 'बिल्ली के भाग से छींका टूटने' जैसा था। साम्प्रदायिक उन्माद पैदा करने से लेकर कारगिल और ताबूत घोटाले तक अपने पापों को ढंकने और जनता का ध्यान बंटाने के तमाम नुस्खे अपना चुकने के बाद उसे मानो ऐसी ही किसी चीज का इन्तजार था। भाजपाई मंत्री तो जैसे अमेरिका से आग्रह कर रहे थे 'हुजूर आप युद्ध तो शुरू कीजिए, उड़ान हमारे यहां से भर लीजियेगा'। अपनी सेवायें देने का वादा करने वालों में भारत सरकार पीछे नहीं रही। नई आर्थिक नीतियों के कारण हो रही तबाही-बर्बादी से पनप रहे जनअसंतोष को कुचलने की भविष्य की तैयारियों को गति प्रदान करने, और उससे भी ज्यादा अपने वर्तमान आर्थिक-राजनीतिक संकट से निपटने के लिए सरकार ने अमेरिका के सुर में सुर मिलाते हुए युद्धोन्माद पैदा करने में अपनी ताकत लगा दी। साथ ही, आतंकवाद विरोधी अभियान के नाम पर जनता के जनतांत्रिक अधिकारों को कुचलने के हथियार निकालने शुरू कर दिये।

पोटो ऐसा ही एक हथियार है। यह सरकारी आतंकवाद का नया हथियार है। मीसा, रासुका, टाडा की ही अगली कड़ी है पोटो। सरकार ने लोकतंत्र का स्वांग करना भी जरूरी नहीं समझा और संसद की मंजूरी मिलने का इन्तजार किये बिना अध्यादेश के रूप में इसे लागू कर दिया गया। पोटो के कुछ प्रावधानों पर पत्रकारों के विरोध के कारण सरकार को कुछ मामूली संशोधनों के बाद पोटो का 'द्वितीय संस्करण' भी जारी करना पड़ा। पोटो की भयावहता का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि यह ऐसा कानून है जिसमें सिर्फ मंशा के आधार पर किसी को आतंकवादी करार दिया जा सकता है (किसी भी व्यक्ति की 'मंशा' क्या है, इसको या तो ऊपर वाला ही जानता है या फिर हिन्दुस्तान की पुलिस ही जानती है)। पोटो के प्रावधानों के तहत हर वह व्यक्ति अपराधी होगा जिसकी ''मंशा'' भारत की एकता, अखण्डता, सुरक्षा व सम्प्रभुता को खतरा पहुंचाना अथवा जनता के किसी भी तबके के भीतर आतंक पैदा करना हो। सरकार के इस प्रचार पर कि पोटो निरपराध लोगों, अल्पसंख्यकों, पत्रकारों, वकीलों, शिक्षकों, कलाकारों, मानवाधिकार कर्मियों के खिलाफ नहीं है, के भ्रम में जो लोग हैं उन्हें इस जलते हुए सच से आंख नहीं चुरानी चाहिए कि टाडा के तहत जेलों में ठूंस दिये गये 76 हजार लोगों में से महज एक प्रतिशत लोगों पर ही दोष सिद्ध किया जा सका। आज भी करीब पन्द्रह हजार लोग जेलों में सड़ रहे हैं।

हिन्दुस्तान के शासक वर्ग में तमाम आपसी अन्तरविरोध होने के बावजूद इस मसले पर सभी एकजुट हैं। संसद में होने वाली बहसबाजी तो

मात्र एक छलावा है। जिस भी चुनावबाज पार्टी को देखिये दुरंगेपन-दोगलेपन के वह नये कीर्तिमान स्थापित कर रही है। विपक्षी दलों में प्रमुख कांग्रेस तो आपातकाल से लेकर टाडा तक कई दमन गाथायें रच चुकी हैं। अभी भी वह भारतीय पूंजीपति वर्ग की वफादार सेवक है। तभी देखिये, पोटो की तर्ज पर दिल्ली, महाराष्ट्र में 'मोक्का' लागू है। पूंजीपति वर्ग की वामांगिनी प. बंगाल सरकार अपने यहां 'पोका' लाने का प्रयास कर चुकी है और यही नकली वामपंथी संसद में बैठकर मेहनतकशों के सबसे बड़े पैरोकार बन जाते हैं। हर चुनावबाज पार्टी जब सत्ता में होती है तो पूंजीपति वर्ग के वफादार कुत्ते के तौर पर गुर्राती है, जनता को काटने दौड़ती है और जब वही विपक्ष में होती है तो जनता की सेवक बन जाती है।

यह एक ऐसा दौर है जब युद्धोन्माद भड़काकर तथा आतंकवाद से निपटने की आड़ में सरकार मेहनतकश जनता के ऊपर अपने हमलों को और तेज करती जा रही है। आर्थिक ''सुधारों'' के दूसरे चक्र में जारी विनिवेश प्रक्रिया को छलांग लगा देने की रणनीति बन चुकी है। बाल्को के विनिवेश के पक्ष में सुप्रीम कोर्ट का फैसला आ जाने के बाद अब विनिवेश मंत्रालय अधिक उत्साह के साथ बेचे जाने वाले सरकारी उपक्रमों की सूची बना रहा है। उधर श्रम मंत्रालय भी श्रम कानूनों को बदलकर पूंजीपतियों की बेलगाम लूट की तमाम अड़चनों को एक झटके के साथ डील करने की योजना पर अन्तिम मुहर लगाने की तैयारी में जुटा हुआ है। इसके साथ ही आनेवाले बजट में देशभक्त की भारी कीमत जनता से वसूलने की तैयारियों में यशवंत सिन्हा जुट चुके हैं।

लेकिन आतंकवाद से निपटने के नाम पर अपने आर्थिक-राजनीतिक संकटों को हल करने की शासक वर्गो की यह रणनीति सामाजिक संकटों के जिस भारी विस्फोट की ओर धकेलती जा रही हैशासक वर्ग उसका अनुमान लगाकर भी कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि उसके पास अब कोई विकल्प नहीं बचा है। अगर आने वाले दिनों में जीने के अधिकार तक से वंचित कर दिये जा रहे लोग अर्जेण्टीना की राह पर चलते हुए सड़कों पर उतर पड़े तो हैरानी नहीं होनी चाहिए। इस सम्भावना की जमीन भी लगातार पकती जा रही है।

लेकिन अपने आर्थिक-राजनीतिक संकटों से निपटने के लिए शासक वर्गों द्वारा की जा रही तैयारियों और भावी सामाजिक संकटों की आहटों के मद्देनजर परिवर्तनकामी शक्तियों की तैयारियां का जायजा लेने पर कोई आश्वस्तिदायी तस्वीर नहीं उभरती। यह एक कड़वा सच है। इस कड़वे सच को साहसपूर्वक स्वीकार करने के बाद ही आज के हालात से पैदा हो रही अपेक्षाओं को पूरा किया जा सकता है और मौजूदा संकटों के भीतर भविष्य की जो संभावनायें छिपी हैं, उनका अधिकतम सम्भव लाभ उठाते हुए परिवर्तन की प्रक्रिया को गतिमान किया जा सकता है।

ललित

दायित्वबोध यहां से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश • संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, **गोरखपुर** • जनचेतना, जाफरा बाजार, **गोरखपुर** • विजय इन्फार्मेशन सेंटर, कचहरी बस स्टैण्ड, **गोरखपुर** • स्टुडेन्ट्स कार्नर, सिनेमा रोड, गोलघर, **गोरखपुर** • अक्षरा स्टेशनर्स, स्टशेन रोड, **गोरखपुर** • राहुल फाउण्डेशन, 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, **लखनऊ** • जनचेतना स्टाल, निकट काफी हाउस, हजरतगंज, **लखनऊ** (शाम पांच से साढ़े आठ) • जनचेतना, डी-68, निराला नगर, आई.टी. चौराहा, **लखनऊ** • विमल कुमार, मैग्जीन स्टाल, निकट नीलगिरि काम्प्लेक्स, ए ब्लाक, इंदिरानगर, **लखनऊ** • इण्डियन बुक डिपो, अमीनाबाद, **लखनऊ** • विश्वनाथ मिश्र, भूमि एवं जल संरक्षण विभाग, नेशनल पी.जी.कालेज, **बड़हलगंज, गोरखपुर** • शहीद पुस्तकालय, द्वारा, डा. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवा सदन, **मर्यादपुर, मऊ** • सबद, 171, कर्नलगंज (स्वराज भवन के सामने) **इलाहाबाद** • श्री मुचकुंद, प्रोग्रेसिव बुक सेंटर, विश्वनाथ मंदिर गेट,बीएचयू, **वाराणसी** • अरुण कुमार चौबे, सर्वोदय बुक स्टाल, प्लेटफार्म नं. 5, रेलवे स्टेशन, **वाराणसी कैंट** • प्रो. प्यारेलाल, 139, फूलबाग कालोनी, पंतनगर कृषि विश्वविद्यालय, **पंतनगर** • रामपाल सिंह, भारतीय जीवन बीमा निगम, आवास विकास, रुद्रपुर, **ऊधमसिंह नगर** • डी.के. सचान, कृषि विज्ञान केन्द्र, 243, विकास भवन, नई कलक्ट्रेट, गाजियाबाद • रवीन्द्र कुमार, भारतीय जीवन बीमा निगम, शाखा कार्यालय, **पंतनगर** • करेंट बुक डिपो, 18/53, माल रोड, (फूलबाग के सामने), **कानपुर** • प्रतिभा प्रकाशन, (पेप्सी होटल के नीचे), स्टेशन रोड, **बलिया** • राजेन्द्र प्रसाद, रेणु मेडिकल की गली, मुख्य सड़क, रेणुकूट, **सोनभद्र** • नेशनल न्यूज एजेन्सी, पल्टन बाजार, **देहरादून** • डा. पी.एस. कुशवाहा, ओल्ड हास्टल, सेंट जॉन्स कालेज, **आगरा** • गार्गी विक्रय पटल, 127, न्यू आवास विकास कालोनी, **सहारनपुर**

दिल्ली • सत्यम वर्मा, 81, समाचार अपार्टमेंट, मयूर विहार फेज-एक • बुक कार्नर, श्रीराम सेंटर, मण्डी हाउस • गीता बुक सेण्टर, शापिंग काम्प्लेक्स, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय • पत्रिका मण्डप, आर्ट्स फैकल्टी, दिल्ली विश्वविद्यालय • पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, मरीना आर्केड, कनाट प्लेस • विजय मैग्जीन स्टाल, रिजर्व बैंक के पास, संसद मार्ग • नई किरन पुस्तक भंडार, एफ-56, ओखला टैंक, हरिकेश नगर, **दिल्ली**

बिहार • समकालीन प्रकाशन, पुस्तक बिक्री केन्द्र, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, **पटना** • मैग्जीन कार्नर, नाला रोड, दिनकर चौक, **पटना** • बी. प्रशान्त, कन्हौली (बी.एम.पी.-6 से पूरब), **मुजफ्फरपुर** • विद्यानन्द सिंह, वार्ड न. 4, **सुपौल** • भुवन वेणु, 'प्रतीक्षा', मधुबनी, चूनापुर रोड, **पूर्णिया**

पंजाब • सुखविन्दर, द्वारा का. दशरथ लाल, म.नं.-14, लेबर कालोनी, गिल रोड, **लुधियाना** • राणा बुक स्टोर, पी.यू.डी.ए. आफिस के पास, भागू रोड, **बठिंडा** • नवा जमाना बुक शाप, नेहरू गार्डन रोड, **जालंधर**

हरियाणा • नरभिन्दर सिंह, शहीद भगतसिंह विचार मंच, हरियाणा, ग्रा.-पो.-संतनगर, जि.-**सिरसा** • पंकज, प्लॉट नं. 33, सेक्टर-15, **सोनीपत** • राजीव रंजन, द्वारा पाश पुस्तकालय, पुलिस लाइन **करनाल** • सुरेश जांगिड़, अक्षर धाम, सुकीर्ति प्रिंटर्स, डी.सी. निवास के सामने, करनाल रोड, **कैथल**

राजस्थान • कविता, द्वारा योगेश कुमार, 94, त्रिवेणी नगर (गोपालपुरा बाइपास), **जयपुर** • चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधों की गली, एम.डी. रोड, **जयपुर** • बुक्स एंड न्यूज मार्ट, एम.आई.रोड, **जयपुर**

महाराष्ट्र • पीपुल्स बुक हाउस, मेहर हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट, फोर्ट, **मुम्बई** • वसुन्धरा, 602, हीरानंदानी गार्डन, गेट वे प्लाजा, **पवई** • शैलेश वाकड़े, विजयालक्ष्मी नगर, टीचर्स कालोनी, बल्लारपुर, **चन्द्रपुर**

प. बंगाल • पुस्तक केन्द्र, भारतीय भाषा परिषद, शेक्सपियर सरणी, **कोलकाता** • बुक मार्क, 6, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, **कोलकाता** • न्यू होराइजन बुक ट्रस्ट, 57/1, पटुआटोला लेन, **कोलकाता** • श्याम अविनाश, पी.एन. घोष स्ट्रीट, **पुरुलिया** • राकेश गोरखा, पाथिभरा पुस्तक पसल, प्रधाननगर, सिलीगुड़ी, **दार्जीलिंग** • जनार्दन थापा, लुकसान बाजार, पो.आ. केरन, जि.-**जलपाईगुड़ी**

आन्ध्र प्रदेश • गोविन्द अक्षय, 'सारस्वत सदन', 13/6/411/2, रामसिंहपुरा, कारवान, **हैदराबाद**

मध्यप्रदेश • जयप्रकाश जायसवाल, 'पितृछाया,' अमृत सागर कालोनी, एम.आई.जी. 96-97, **रतलाम** • चिंचोलकर बुक हाउस, बस स्टैण्ड, **जगदलपुर, बस्तर** • 'विकल्प' सांस्कृतिक मोर्चा, 22, स्वास्तिक काम्लेक्स, रसल चौक, **जबलपुर**

नेपाल • संगम पुस्तक पसल, वीरेन्द्र नगर, थेरी अंचल, जिला-सुर्खेत, मध्य पश्चिमांचल क्षेत्र • विश्व नेपाली पुस्तक पसल, अस्पताल लाइन, बुटवल, **लुम्बिनी** • प्रगति पुस्तक पसल, डिल्ली बाजार, ओकालो, **काठमांडू**

समय के पार छलांग

(पृष्ठ 43 का शेष)

की ताकत को दिखाता है। यहां की उन्नति व बदलाव का काफी कुछ प्रभाव बिहार के गरीबों के जीवन स्तर पर पड़ता है। यह बड़ी दिलचस्प बात है कि दिल्ली, हरियाणा, पंजाब व अन्य जगहों की आर्थिक प्रगति न केवल गरीब बिहारियों को आय के अवसर प्रदान करती है बल्कि हजार किलोमीटर दूर की अर्थव्यवस्था में भी तीव्र परिवर्तन कर देती है।

भविष्य के प्रति अब स्वाभाविक सा प्रश्न बनता है कि क्या ये बदलाव बिहार को एक स्थायी रूपान्तरण व विकास की तरफ ले जायेंगे। बड़ी संख्या में मजदूरों का अब पूरे उत्तरी भारत में मौसमी पलायन व उनके द्वारा भेजी जाने वाली धनराशि से उनके गृहस्थान में पूंजी निर्माण व विकास की सम्भावना बनती है। लेकिन ये मजदूर जमीनों के मालिक नहीं है जो कि पूंजी को अपनी जमीन में निवेश कर सकें। हमें एक मामला देखने को मिला जिसमें बाहर जाने वाले व्यक्ति ने अपनी बचत का एक हिस्सा जमीन खरीदने में लगाया। यह आम बात भी हो सकती है। लेकिन बाहर से भेजे गये पैसों का अधिकांश हिस्सा उपभोग में ही लग जाता है, मुख्यतः भोजन में। दूसरी तरफ इसका कृषि सामान के बाजार में वृद्धि और बाजार के लिए पैदा करने के लिए प्रेरणास्रोत के रूप में अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। चिरस्थायी वृद्धि की पूरी सम्भावना मौजूद है। लेकिन गावों के स्तर पर विद्यमान संस्थान, दोनों सामाजिक संस्थान व राज्य द्वारा समर्थन का ढांचा सभी अपर्याप्त है। यह सोचना नितान्त आवश्कय है कि किस प्रकार राज्य प्रेरणा प्रदान कर, संस्थानों को खड़ा कर व आधारभूत संरचनाओं में निवेश करके वृद्धि के इस मौके का फायदा उठा सकता है ताकि प्रगति की इन संभावनाओं को वास्तविकता में बदला जा सके।

टिप्पणियां

1. कुल जनसंख्या पर गणना की गयी है। छोटे बच्चों को छोड़ दें, तो यह दर थोड़ी अधिक होगी।

2. देखें एच एस प्रधान का लेख ''अर्ध सामन्ती कृषि के रूपान्तण के सिद्धान्त की तरह EPW अगस्त1, 1987 एवं दूसरे लेख।

3. गर्मी के मौसम में धान की खेती उस जमीन में की जाती थी, जिसमें गेहूं की फसल खराब हो जाती थी। इस प्रकार उसी सीजन का उपयोग हो जाता था।

4. यह मोटे अनुमान, ऐसे वर्ष के अनुसार होंगे जिनमें मौसम के हालात औसत रहे होंगे। इसलिए सीमित आधार के चलते इसमें अनिश्चितता की पर्याप्त गुंजाइश है।

5. इन गणनाओं में बहुत सारे दूसरे घटकों को नजरअन्दाज किया गया हैजैसे खेतिहर मजदूरों व जोतदारों की जनसंख्या में वृद्धि का अन्तर। यद्यपि हमें विश्वास है कि इन गणनाओं से जो गुणात्मक तस्वीर निकलती है, वह मोटे तौर पर सही है।

6. अनाज की समतुल्यता, वास्तविक आय जानने के लिए एक कुंजी है। गांवों में खेतिहर मजदूरों के बजट का लगभग सारा खर्च अनाज पर ही होता है।

7. गेहूं का सापेक्षतया कम मूल्य दर्शाता है कि इंटरव्यू गेहूं की फसल के तुरन्त बाद लिया गया था।

8. यह अनुमान 'इंडियन लेबर जनरल' में बिहार के लिए प्रकाशित आंकड़ों को विभाजित कर प्राप्त किये गये हैं। अखिल भारतीय सूचकांक थोड़ा ज्यादा है (411)। खेतिहर मजदूरों का सूचकांक अब 1986-87-100 आधार पर निकाला जाता है, और इसी समय इनका मूल्य भी संशोधित किया गया था। पहले ये आंकड़े 1960-61 100 आधार पर निकाले जाते थे।

9. यह बहुत से कारकों पर निर्भर करता है, जैसे कि फसल कटाई की चाल व मढ़ाई में लगा समय आदि-आदि। यदि प्रति हेक्टेयर पैदावार बढ़ती है, तो कटाई व मढ़ाई में मजदूर भी अधिक लगेंगे लेकिन बिला सुवहा उसी अनुपात में नहीं

10. सन 1999 में गेहूं की पैदावार अपवाद के तौर पर बहुत कम हुई थी, इसलिए उस साल में रिटर्न काफी कम था।

11. डी. हान 'जीविकोपार्जन एवं गरीबी के सम्बन्ध में माईग्रेशन की भूमिका' के रिव्यू में अधिकांश अध्ययनों को उद्धृत किया गया है। जो यह बताते हैं कि माइग्रेशन से असमानता बढ़ती है, यद्यपि वह यह निष्कर्ष निकालता है क इसका सर्व सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता है। इस मामले में यह मालूम होता है कि माइग्रेशन से गांवों में असमानता कम हुई है तथा पश्चिमी भारत व पूर्वी बिहार के बीच की असमानता कम हुई है, हां लेकिन पश्चिमी भारत के अन्दर असमानता बढ़ी गयी है क्योंकि दिल्ली, पंजाब, हरियाणा में बिहारी माईग्रेट, अकुशल मजदूरी का काम करते हैं।

12. आहार में सुधार होने से निस्सन्देह ही संतानोत्पादकता में वृद्धि व मृत्युदर में कमी आयी लेकिन इतनी भी नहीं कि इन आंकड़ों के बराबर हो जाये।

13. यह माइग्रेशन एक पहलू है जिस पर ज्यादा ध्यान देने की जरूश्रत है, जान ब्री मेन एवं अरविन्द दास का लेख 'Down and out :Working Under Global Capitalism, Delhi. OUP, 2000' जिसमें गुजरात में माइग्रेशन के काम के हालात के बारे में कुछ उदाहरण हैं जो कि हमारे इस कथन की पुष्टि करते हैं।

... हमारा यह भी विश्वास है कि साम्राज्यवाद एक बड़ी डाकेजनी की साजिश के अलावा कुछ नहीं। साम्राज्यवाद मनुष्य के हाथों मनुष्य के और राष्ट्र के हाथों राष्ट्र के शोषण का चरम है। साम्राज्यवादी अपने हितों, और लूटने की योजनाओं को पूरा करने के लिए न सिर्फ न्यायालयों एवं कानून को कत्ल करते हैं, बल्कि भंयकर हत्याकाण्ड भी आयोजित करते हैं। अपने शोषण को पूरा करने के लिए जंग-जैसे खौफनाक अपराध भी करते हैं। जहां कहीं लोग उनकी नादिरशाही शोषणकारी मांगों को स्वीकार न करें या चुपचाप उनकी ध्वस्त कर देनेवाली और घृणायोग्य साजिशों को मानने से इन्कार कर दें तो वह निरपराधियों का खून बहाने से संकोच नहीं करते। शान्ति-व्यवस्था की आड़ में वे शान्ति-व्यवस्था भंग करते हैं। भगदड़ मचाते हुए लोगों की हत्या, अर्थात हर सम्भव दमन करते हैं।

भगतसिंह

बेहतर ज़िन्दगी का रास्ता बेहतर किताबों से होकर जाता है

घटिया साहित्य के घटाटोप और अपसंस्कृति के अंधेरे में उत्कृष्ट, स्तरीय, जनपक्षधर, क्रान्तिकारी, क्लासिकी साहित्य को जन-जन तक पहुंचाने का एक अभियान

आम लोगों के लिए
जरूरी हैं वे किताबें
जो उनकी ज़िन्दगी की घुटन
और मुक्ति के स्वप्नों तक
पहुंचाती हैं विचार
जैसे कि बारूद की ढेरी तक
आग की चिनगारी।
घर-घर तक चिनगारी छिटकाने वाला
तेज हवा का झोंका बन जाना होगा
जिन्दगी और आने वाले दिनों का सच
बतलाने वाली किताबों को
जन-जन तक पहुंचाना होगा।

ऐसी किताबों को जन-जन तक पहुंचाना नये सर्वहारा नवजागरण-प्रबोधन का एक जरूरी कार्यभार है। वैकल्पिक मीडिया खड़ा करने की मुहिम का एक अहम कदम है। बड़बोली विज्ञापनबाजी से दूर, 'जनचेतना' पिछले पन्द्रह वर्ष से चुपचाप इस अभियान में जुटी है।

आज जब किताबें मुख्यतः पुस्तकालयों में कैद हो जाने के लिए छापी जा रही हैं और आम पाठकों और किताबों के बीच दूरी बढ़ती जा रही है, 'जनचेतना' अपने चार मुख्य वितरण केन्द्रों, अनेक छोटे स्टालों तथा वर्षभर चलने वाली छोटी-बड़ी प्रदर्शनियों के जरिए किताबों को लेकर सीधे पाठकों के बीच जाती है, नये पाठक और पुस्तकप्रेमी तैयार करती है। इसके कार्यकर्ता झोले में किताबें लेकर घरों, दफ़्तरों, कारखाना गेटों, मजदूर बस्तियों और कालेजों में जाते हैं।

हिन्दी क्षेत्र में यह अपने ढंग का एक अनूठा प्रयास है। एक भी वैतनिक स्टाफ के बिना, समर्पित वालंटियरों और विभिन्न सहयोगी जनसंगठनों के कार्यकर्ताओं के बूते पर यह प्रोजेक्ट आगे बढ़ रहा है।

'परिकल्पना प्रकाशन' और 'राहुल फाउण्डेशन' के प्रकाशन प्रभाग की पुस्तकों का 'जनचेतना' मुख्य वितरक है। ये प्रकाशन पांच स्रोतोंसरकार, राजनीतिक पार्टियों, कारपोरेट घरानों, बहुराष्ट्रीय निगमों और विदेशी फण्डिंग एजेंसियों से किसी भी प्रकार का अनुदान या वित्तीय सहायता लिये बिना जनता से जुटाये गये संसाधनों के आधार पर आज के दौर के लिए जरूरी व महत्त्वपूर्ण साहित्य बेहद सस्ती दरों पर उपलब्ध कराने के लिए प्रतिबद्ध हैं।

परिकल्पना प्रकाशन की नई प्रस्तुतियां

मक्सिम गोर्की की सात पुस्तकों का गुलदस्ता

फोमा गोर्देयेव (उपन्यास)
गोर्की के श्रेष्ठतम उपन्यासों में से एक। क्रान्तिपूर्व रूस के व्यापारी वर्ग के जीवन की जीवन्त तस्वीर जिसमें पैसे के पीछे भागना ही सबकुछ है; पैसा ही भगवान है; सभी मानवीय सम्बन्ध आना-पाई के स्वार्थपूर्ण हिसाब-किताब में डूब चुके हैं। नये जीवन के प्रात के पहले पुराने जीवन का अंधेरा और गहरा गया है। हिन्दी में कई दशकों बाद उपलब्ध।
पृष्ठ : 256 मूल्य : रु. 55.00 (पेपरबैक)/ रु. 110.00 (सजिल्द)

अभागा (उपन्यास)
एक मानवद्रोही समाज व्यवस्था में संवेदनशील इंसान की त्रासदी। हिन्दी में कई दशकों बाद उपलब्ध।
पृष्ठ : 128 मूल्य : रु. 25.00 (पेपरबैक) रु. 50.00 (सजिल्द)

बेकरी का मालिक (उपन्यास)
हिन्दी में कई दशकों बाद उपलब्ध।
पृष्ठ : 110 मूल्य : रु. 25.00 (पेपरबैक)/ रु. 50.00 (सजिल्द)

तलछट (नाटक)
विश्व के श्रेष्ठतम नाटकों में से एक। शोषक समाज में तलछट का जीवन बिताने को मजबूर निचले तबकों के जीवनसंघर्ष, अन्यायी व्यवस्था के प्रति उनके दिल में जलती नफरत, कड़वाहट और रूखेपन की ऊपरी परत के भीतर उनमें छिपे भाईचारे, एकता और उदात्त मानवीय गुणों का अविस्मरणीय चित्रण करने वाली कृति।
पृष्ठ : 128 मूल्य : रु. 30.00 (पेपरबैक)/ रु. 60.00 (सजिल्द)

चुनी हुई कहानियां (खण्ड दो)
गोर्की की तैंतीस कहानियों का संकलन। पहली बार काल-क्रम से व्यवस्थित करके, एक साथ तीन खण्डों में प्रकाशित।
पृष्ठ : 264 मूल्य : रु. 50.00 (पेपरबैक)/ रु. 100.00 (सजिल्द)

सृजन की प्रक्रिया और शिल्प के बारे में
गोर्की के विचारोत्तेजक निबन्धों और भाषणों का संकलन।
पृष्ठ : 160 मूल्य : रु. 30.00 (पेपरबैक)/ रु. 60.00 (सजिल्द)

तोल्स्तोय : एक शब्दचित्र
विश्व के महानतम उपन्यासकारों में से एक, लेव तोल्स्तोय के प्रिय शिष्य और मित्र गोर्की की जादुई कलम से उनका बेहद जीवन्त और दिलचस्प शब्दचित्र और संस्मरण।
पृष्ठ : 80 मूल्य : रु. 20.00 (पेपरबैक)/ रु. 40.00 (सजिल्द)

अंतोन चेखव : चुनी हुई कहानियां (दो खण्डों में)
विश्व के सार्वकालिक उत्कृष्टतम कहानीकारों में से एक अंतोन चेखव की चुनिन्दा कहानियों का संकलन।
पृष्ठ : 250 मूल्य : रु. 60.00 (पेपरबैक)/ रु. 120.00 (सजिल्द)

जे.वी. स्तालिन : मार्क्सवाद और भाषाविज्ञान की समस्याएं
पृष्ठ : 48 मूल्य : रु. 15.00 (पेपरबैक)

निकोलाई आस्त्रोवस्की : जय जीवन!
'अग्निदीक्षा' उपन्यास से दुनियाभर में करोड़ों देशभक्त, क्रान्तिकारी नौजवानों के दिल में जगह बना लेने वाले निकोलाई आस्त्रोवस्की के लेखों, इंटरव्यू और पत्रों का संकलन। एक बेहद प्रेरणादायी पुस्तक। हर युवा के लिए एक जरूरी संकलन।
पृष्ठ : 220 मूल्य : रु. 50.00 (पेपरबैक)/ रु. 100.00 (सजिल्द)

बेलिंस्की, हर्ज़न, चेर्नीशेव्स्की, दोब्रोल्युबोव
दर्शन, साहित्य और आलोचना
बेलिंस्की, हर्ज़न, चेर्नीशेव्स्की और दोब्रोल्युबोव क्रान्तिपूर्व के उन रूसी विचारकों और लेखकों में से थे जिन्होंने कठिनाइयों और दमन के झंझावातों से जूझते हुए दर्शन और साहित्य में जनवाद के उसूलों और मूल्यों की मशाल प्रज्ज्वलित रखी और रूसी क्रान्तिकारियों की भावी पीढ़ियों का मार्ग प्रशस्त किया। एक अत्यन्त प्रेरणादायी संकलन।
पृष्ठ : 256 मूल्य : रु. 60.00 (पेपरबैक)/ रु. 120.00 (सजिल्द)

विमल कुमार : यह मुखौटा किसका है
'सपने में एक औरत से बातचीत' के चर्चित युवा कवि विमल कुमार का दूसरा कविता संग्रह।
पृष्ठ : 120 मूल्य : रु. 35.00 (पेपरबैक)/ रु. 75.00 (सजिल्द)

राहुल फाउण्डेशन के नये प्रकाशन

उम्मीद एक ज़िन्दा शब्द है
('दायित्वबोध' के महत्वपूर्ण सम्पादकीय लेखों का संकलन)
भारतीय समाज के आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक संकट, फासीवादी उभार की चुनौतियों, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद की प्रकृति, स्वरूप और संकट, भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन के भटकावों, चुनौतियों, कार्यभारों और विकल्प के सवालों पर अठारह विचारोत्तेजक लेखों का एक जरूरी संग्रह
पृष्ठ : 224 मूल्य : रु. 60.00 (पेपरबैक)

एनजीओ : एक खतरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र
आधिकारिक विद्वानों और जमीनी कार्यकर्ताओं की कलम से एन.जी.ओ. कुचक्र के सभी पहलुओं को उजागर करने वाली एक बेहद जरूरी किताब।
पृष्ठ : 104 मूल्य : रु. 25.00 (पेपरबैक)

माओ त्से-तुङ : दर्शन विषयक पांच निबन्ध
● व्यवहार के बारे में ● अन्तरविरोध के बारे में ● जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में ● सही विचार आखिर कहां से आते हैं? ● प्रचार-कार्य पर चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के राष्ट्रीय सम्मेलन में भाषण
पृष्ठ : 128 मूल्य : रु. 25.00 (पेपरबैक)

माओ त्से-तुङ : कला-साहित्य विषयक एक भाषण और पांच दस्तावेज पृष्ठ : 48 मूल्य : रु. 12.00 (पेपरबैक)

लेनिन : तोल्स्तोय के बारे में मूल्य : रु. 8.00 (पेपरबैक)

बोल्शेविक पार्टी का इतिहास पृष्ठ:352 मूल्य : 80/- (प्रेस में)

Mao Tse-tung
Selected Readings
A selection of Mao's most important articles.
Pages : 508 Price : Rs. 65.00

आज की विशेष परिस्थिति में बेहद जरूरी वी. आई. लेनिन की आठ पुस्तकें

समाजवाद और युद्ध
मूल्य : रु. 10.00 (पेपरबैक)

साम्राज्यवादः पूंजीवाद की चरम अवस्था
मूल्य : रु. 25.00 (पेपरबैक)

राज्य और क्रान्ति
मूल्य : रु. 25.00 (पेपरबैक)

सर्वहारा क्रान्ति और गद्दार काउत्स्की
मूल्य : रु. 15.00 (पेपरबैक)

दूसरे इण्टरनेशनल का पतन
मूल्य : रु. 10.00 (पेपरबैक)

गांव के गरीबों से
मूल्य : रु. 10.00 (पेपरबैक)

मार्क्सवाद का विकृत रूप तथा साम्राज्यवादी अर्थवाद
मूल्य : रु. 10.00 (पेपरबैक)

कार्ल मार्क्स और उनकी शिक्षा
मूल्य : रु. 10.00 (पेपरबैक)

बिगुल पुस्तिका-चार
अक्टूबर क्रान्ति की मशाल
पृष्ठ : 52 मूल्य : रु. 12.00 (पेपरबैक)

बिगुल पुस्तिका-पांच
पेरिस कम्यून की अमर कहानी
पृष्ठ : 48 मूल्य : रु. 12.00 (पेपरबैक)

अन्य पुस्तकों के कैटलाग तथा पुस्तकें मंगाने के लिए आज ही हमसे सम्पर्क करें :

जनचेतना

डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

काफी हाउस के पास, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8)

जाफरा बाजार, गोरखपुर-273001

81, समाचार अपार्टमेण्ट, मयूर विहार फेज-एक, दिल्ली-110091

email : janchetna@rediffmail.com

नयी शताब्दी में हिन्दी पाठकों को राजकमल की अनुपम भेंट

मानवद्रोही संस्कृति एवं विचारों के कारगर प्रतिरोध के लिए, मानवीय सारतत्व की सतत् समृद्धि के लिए, हमें सम्पूर्ण मानव-सभ्यता की, सांस्कृतिक धरोहर को विस्मृति के अंधेरे में, खोने से बचाना होगा, महान सृजनशील-प्रगतिशील परम्पराओं के सत्व को आत्मसात करना होगा, और निकट अतीत की महान रचनात्मक विरासत को संजोकर-अपनाकर, विकासमान जीवन के नये-नये रूपों को पहचानना होगा, उनका कलात्मक पुनर्सृजन करना होगा, और फिर ढालने होंगे, जीवन-संघर्ष के दहनपात्र में नये सांस्कृतिक सांचे, जिनसे गढ़े जायेंगे नये मानव नई सदी में, एक बार फिर।

आधुनिक विश्व-साहित्य की महानतम क्लासिकी कृतियों की तीन सुचयनित शृंखलाएँ

धरोहर : आधुनिक विश्व-क्लासिकी शृंखलाएक

दांते, बोकासियो, पेट्रार्क, एरास्मस, टॉमस मूर, राबेले, सर्वान्तीस, शेक्सपियर, मोलिएर, रासीन, वोल्तेयर, दिदेरो, रूसो, मोंतेस्क्यू, लेसिंग, गोयठे, शिलर, रिचर्डसन, फ़ील्डिंग, स्विफ़्ट, स्मोलेट, डेफ़ो, स्टर्न आदि

पुनर्जागरण और प्रबोधनकाल के महामानवों की महान कृतियाँ

परम्परा : आधुनिक विश्व-क्लासिकी शृंखलादो

बाल्ज़ाक, स्टेण्ढाल, वाल्टर स्कॉट, डिकेंस, थैकरे, एमिली ब्राण्टे, ज़ोला, फ्लॉबेयर, गोंकूर बंधु, द्यूमा, ह्यूगो, हार्डी, इब्सन, मोपासाँ, पुश्किन, गोगोल, लर्मन्तोव, गोंचारोव, श्चेद्रिन, बेलिंस्की, हर्ज़न, चेर्नीशेव्स्की, तुर्गनेव, तोल्स्तोय, दोस्तोयेव्स्की, चेखव, मार्क ट्वेन, शेली, वर्ड्सवर्थ, कीट्स, बायरन, हाइने, वाल्ट व्हिटमन, जेन ऑस्टेन, जार्ज सांद आदि

उन्नीसवीं शताब्दी के महानतम यथार्थवादी और स्वच्छन्दतावादी रचनाकारों की अविस्मरणीय कृतियाँ

विरासत : आधुनिक विश्व-क्लासिकी शृंखलातीन

गाल्सवर्दी, अनातोल फ्रांस, रोम्याँ रोलाँ, बर्नार्ड शॉ, थॉमस मान, अल्बर्तो मोराविया, ग्राहम ग्रीन, मक्सिम गोर्की, जैक लण्डन, अप्टन सिंक्लेयर, सिंक्लेयर लेविस, हॉवर्ड फ़ास्ट, प्रूस्त, जॉयस, पर्ल बक, सार्त्र, कामू, काफ़्का, कैथरीन मैन्सफील्ड, सिमोन द बोउवा, वर्जीनिया वुल्फ़, हेमिंग्वे, फॉकनर, हरमन हेस, गैब्रिएल मिस्त्राल, फ़देयेव, फ़ेदिन, मयाकोव्स्की, येस्येनिन, अख़्मातोवा, शोलोख़ोव, अरागां, लोर्का, ब्रेष्ट, स्तानिस्लाव्स्की, लू शुन, माओ दुन, नाज़िम हिकमत, तो हू, वयुनारी कवाबाता, पाब्लो नेरूदा, सैमुएल बेकेट, स्टीनबेक, जेम्स वेल्डन जॉनसन, लैंग्सटन ह्यूज, रिचर्ड राइट, वोले शोयिंका, ग्युंटर ग्रास, मार्खेज़, बोर्खेज़, दारियो फ़ो, सरामागो, विस्वावा शिम्बोर्स्का, न्गूगी वा थ्योंगो, चिनुआ अचेबे आदि

बीसवीं शताब्दी के अग्रतम सर्जकों की सर्वाधिक प्रतिनिधि कृतियाँ

पहले सेट की पुस्तकें

धरोहर : प्रबोधनकाल के महान क्रान्तिकारी लेखक **देनी दिदेरो**

रामो का भतीजा : अनुवाद : अरविन्द सिंह

पृष्ठ : 128 मूल्य : 45 रुपये (पेपरबैक)

परम्परा : ओनोरे द बाल्ज़ाक का प्रसिद्ध उपन्यास

किसान : अनुवाद : सत्यम

पृष्ठ : 304 मूल्य : 80 रुपये (पेपरबैक)

विरासत : अप्टन सिंक्लेयर का विश्वप्रसिद्ध उपन्यास

जंगल : अनुवाद : सत्यम

पृष्ठ : 360 मूल्य : 90 रुपये (पेपरबैक)

दो और महत्त्वपूर्णशृंखलाएँ

सृजन-सैद्धान्तिकी :

कला-साहित्य-संस्कृति के वैचारिक-सौन्दर्यशास्त्रीय पक्षों पर विमर्श-शृंखला

कलात्मक सृजन के विविध पक्षों पर विगत लगभग एक शताब्दी के दौरान जो सैद्धान्तिक बहसें चली हैं और स्थापनाएँ दी गई हैं, जो भी महत्त्वपूर्ण लिखा गया है, उन सबके बीच से एक प्रतिनिधि चयन

प्लेखानोव, लूनाचार्स्की, गोर्की, वोरोव्स्की, वोरोन्स्की, वोलोशिनोव, बख़्तीन, ख्रापचेंको, लिफ्शित्ज़, ब्रेष्ट, लूकाच, ग्राम्शी, कोर्श, कॉडवेल, स्तानिस्लाव्स्की, आइजेंश्ताइन, राल्फ़ फ़ॉक्स, वाल्टर बेंजामिन, अर्न्स्ट ब्लॉक, लूसिए गोल्डमान, रेमण्ड विलियम्स, मोराव्स्की, डेला वोल्पे, लीफेब्रे, अल्थूसर, मक्स रफाएल, सार्त्र, इस्तवान मेस्जारोस, फ्रेडरिक जेम्सन, टेरी ईगल्टन, अदोर्नो, मार्क्यूज़, हैबरमास, कैलिनिकोस, नोम चोम्स्की, एडवर्ड सईद, एजाज़ अहमद, रोलांबार्थ, फूको, ल्योतार, देरिदा आदि

अर्द्धांश : स्त्री-प्रश्न पर विमर्श-शृंखला

स्त्री प्रश्न पर विमर्श और स्त्री आन्दोलन के दो शताब्दियों लम्बे इतिहास से *एक जरूरी परिचय : चुनी हुई प्रतिनिधि कृतियों के माध्यम से*

मेरी वोल्सटनक्राफ्ट, जॉन स्टुअर्ट मिल, ऑगस्ट बेबेल, क्लारा ज़ेटकिन, अलेक्सांद्रा कोल्लोन्ताई, एलिजाबेथ कैडी स्टैण्टन, सूज़न एंथनी, केट मिलेट, बेट्टी फ्रीडन, सिमोन द बोउवा, जर्मेन ग्रीयर, मार्गरेट बेन्सटन आदि से लेकर बीसवीं शताब्दी के नारीवादी आन्दोलन की सभी धाराओं के प्रतिनिधि सिद्धान्तकारों-लेखकों का कृतित्व

पहले सेट की पुस्तकें

सृजन-सैद्धान्तिकी : मार्क्सवाद और भाषा का दर्शन

–वी. एन. वोलोशिनोव अनुवाद : विश्वनाथ मिश्र

पृष्ठ : 220 मूल्य : 75 रुपये (पेपरबैक)

अर्द्धांश : स्त्रियों की पराधीनता

–जॉन स्टुअर्ट मिल अनुवाद : प्रगति सक्सेना

पृष्ठ : 136 मूल्य : 50 रुपये (पेपरबैक)

आगामीशृंखलाओं के प्रमुख आकर्षण

धरोहर : राबेले, सेर्वान्तेस व स्विफ्ट के उपन्यास

परम्परा : बाल्ज़ाक और चार्ल्स डिकेन्स के उपन्यास

विरासत : मार्क ट्वेन की कहानियां, जैक लण्डन और थियोडोर ड्रीज़र के उपन्यास

सृजन सैद्धान्तिकी : कला और सामाजिक जीवन तथा सौन्दर्यशास्त्र विषयक कुछ निबन्धजी. प्लेखानोव

अर्द्धांश : स्त्री-अधिकारों का औचित्य-साधनमेरी वोल्सटनक्राफ्ट
स्त्रियाँ और समाजवादऑगस्ट बेबेल

पाँचों शृंखलाओं के सम्पादक : **कात्यायनी** और **सत्यम**

nkf ;Rockध

हिन्दी में अपने ढंग की अकेली पत्रिका

हर अंक में संग्रहणीय सामग्री

पिछले अंकों में प्रकाशित कुछ महत्वपूर्ण सामग्री

नवम्बर'95–फरवरी'96

• साम्राज्यवाद आज भी कागजी बाघ है (भूमंडलीकृत पूंजीवाद के चरित्र और उसके अन्तर्निहित संकट का विस्तृत विश्लेषण) • सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में अर्थनीति और राजनीति : *लेनिन* • जनवादी केन्द्रीयता का सवाल : *माओ त्से-तुङ* • शिखर पर रुदन : आत्मविश्लेषण और आत्म आलोचना से आत्म-भर्त्सना तक पश्चिम की विचारयात्रा • माओ और सुरजीत पातर की कविताएं • आइजेंस्ताइन और '*पूंजी*' पर फिल्म बनाने की योजना

मार्च–अगस्त 1996

• माओवादी नियोजन का सिद्धान्त और व्यवहार : एक स्वप्नदर्शी और व्यावहारिक समाजवाद के पक्ष में • भाषा, इतिहास और वर्ग संघर्ष • आज के दौर में नारीवादी लेखन : कुछ अहम सवाल, कुछ बुनियादी समस्याएं • *हावर्ड फास्ट के विश्वविख्यात उपन्यास* 'दि अमेरिकन' के अंश

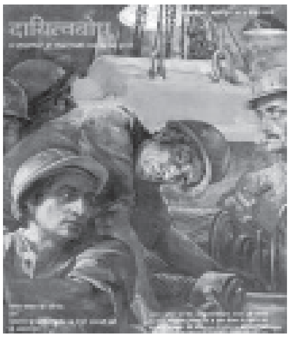

सितम्बर–अक्टूबर 1996

• मार्क्स और पर्यावरण • क्रान्ति का विज्ञान • विज्ञान, कला और अधिरचना—*एमिल बर्न्स* • ताचाई की कहानी • 'जनवाद' का विभ्रम और सर्वहारा अधिनायकत्व

नवम्बर'96–फरवरी'97

समाजवाद के सिद्धान्त और प्रयोग, समस्याओं और चुनौतियों पर *विशेष सामग्री*

• माओ के अमर अवदान और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की युगान्तरकारी शिक्षाएं • स्तालिन : एक मूल्यांकन • स्तालिन के समय में सोवियत समाजवाद • रूसी क्रान्ति का मूलभूत अभिप्राय—*रोजा लक्ज़ेमबर्ग* • सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति क्या, क्यों और किस प्रकार • सोलहसूत्रीय सर्कुलर • सांस्कृतिक क्रान्ति के सैद्धान्तिक आधार के बारे में—*जार्ज थामसन* • कला में विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु और यथार्थवाद पर मार्क्स-एंगेल्स • पाब्लो नेरूदा और माओ त्से-तुङ की कविताएं

मार्च–जून 1997

• मजदूर आन्दोलन पर कुछ सवाल • पेरिस कम्यून की महान शिक्षाएं • सर्वहारा अधिनायकत्व की विजय अमर रहे • सूचना क्रान्ति का सच

जुलाई–अक्टूबर 1997

• एक ऐतिहासिक विश्वासघात और उसके बाद की अंधकारमय अर्द्धशताब्दी • माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य • चाङ चुन-चियाओ का लेखः बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में • सेर्गेई आइजेंस्ताइन कला का मनोविज्ञान • मार्क्सवाद के विरोध में "नव" दक्षिणपंथी लोकरंजकतावाद के नये-नये मिथक

नवम्बर '97–फरवरी '98

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की अट्ठाइस कविताएं व ब्रेष्ट पर मोहन थपलियाल का लेख • गैर सरकारी स्वयंसेवी संगठनों और दाता एजेंसियों का असली चरित्र • मदर टेरेसा और उनके उत्तराधिकारियों का "मिशन" : सेवा का सच • महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज • माओ त्से-तुङ की कविताएं

मार्च–जून 1998

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं कांगेस में प्रस्तुत रिपोर्ट • 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' की 150वीं वर्षगांठ पर विशेष लेख • ग्राम्शी का लेख 'बुद्धिजीवी' • पूंजीवाद की पूंजीवादी समालोचना के निहितार्थ • मदर टेरेसा : मिथक और यथार्थ • शशि प्रकाश की पच्चीस कविताएं

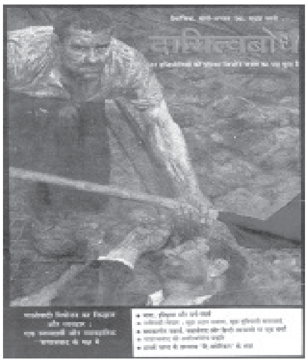

जुलाई–दिसम्बर 1998

ब्रेष्ट, लोर्का और रॉबसन की जन्मशती के अवसर पर विशेष सामग्री :

• बेर्टोल्ट ब्रेष्ट और उनका थियेटर • लोर्का की कविताएं • लोर्का पर नेरूदा की कविता • रॉबसन पर नाजिम हिकमत की कविता • उत्तर- औपनिवेशिक सिद्धान्त और 'उत्तर' -अवस्था : *एजाज अहमद* • गैर सरकारी संगठनों का असली मिशन • भूण्डलीकरण और सामाजिक विज्ञान • माओकालीन चीन में मार्क्सवाद : *जार्ज थामसन* • हेनरिख हाइने, फर्डिनांड फ्रेलिग्राथ, जार्ज वेयेर्थ और पाब्लो नेरूदा की कविताएं

जुलाई–सितम्बर 1999

• स्वयंसेवी संगठनों और दाता-एजेंसियों का नेटवर्क : एक खतरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र • तीसरी दुनिया में कृषि-अनुसंधान का ढांचा • भारतीय क्रान्ति व कृषि प्रश्न • बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक कृति 'थियेटर का एक संक्षिप्त तर्कशास्त्र'

अक्टूबर–दिसम्बर 1999

• जनता के सांस्कृतिक आन्दोलन की चुनौतियां • 'बीसवीं सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति और उसकी प्रासंगिकता' • बुर्जुआ से सर्वहारा क्रान्ति की ओर : *जार्ज थामसन* • मूलाधार और अधिरचनाओं के सम्बन्ध के बारे में : *वोलोशिनोव* • विद्रोही कवि काजी नजरुल इस्लाम • *इस्तवान मेस्जारोस* की चर्चित कृति 'बियॉण्ड कैपिटल' की समीक्षा

जनवरी–मार्च 2000

• कम्युनिस्ट घोषणापत्र की स्मृति में : *अंतोनियो लाब्रियोला* और *रेमंड लोट्टा* के महत्वपूर्ण लेख • जार्ज लुकाच के विरोध में : *ब्रेष्ट* • कहां हैं हमारी भाषा के वे कारीगर हाथ : *आलोक श्रीवास्तव* • माओवादी चीन में स्त्रियां • महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज और लेख • नजरुल की कविता 'विद्रोही' • नये वर्ष में हड़तालों की लहर और इसकी विफलता के सबक

जुलाई–सितम्बर 2000

आपातकाल के कुछ अनुत्तरित यक्ष-प्रश्न और हमारा समय *हांस आइसलर* का लेख एक नई संगीत संस्कृति के निर्माता समाजवादी काल में वर्ग संघर्ष के नियम • स्त्री मुक्ति का राजनीतिक अर्थशास्त्र • महत्वपूर्ण होती है आम जनता : एक गणितज्ञ की आस्था

जनवरी–मार्च 2001

इतिहास के लिए कुछ कार्य-स्थगन प्रस्ताव • हिटलर के वंशजों का खतरनाक अभियान •औपनिवेशिक भारत में लोकभाषाओं एवं लिपियों का शिक्षा व्यवस्था से निष्कासन • सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याओं पर माओ का लेख • राष्ट्रीय सवाल पर जार्ज थामसन का लेख • 'मजदूर वर्गीय संगीत की समस्याएं'—हांस आइसलर • महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज

जुलाई–सितम्बर 2001

भारतीय कृषि का संकट और नरोदवादी-राष्ट्रवादी "मार्क्सवाद" • शेयर बाजार–एक मार्क्सवादी विश्लेषण : फ्रेडरिक एंगेल्स, हरपाड़ बराड़, तापस चक्रवर्ती, सत्यम वर्मा और प्रो. अरुण कुमार के लेख • निरंकुश दमनकारी राज्यतंत्र की ओर धकेलती आर्थिक नीतियां • 'सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएं ' की आलोचना–माओ त्से-तुङ • खाद्यान्न की वैश्विक राजनीति • महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज • हमारा समय और सृजन का परिप्रेक्ष्य

पत्रिका के पुराने अंकों के लिए लिखें :

प्रसार व्यवस्थापक
दायित्वबोध
81, समाचार अपार्टमेंट,
मयूर विहार फेज-1
दिल्ली-110091

प्रत्येक अंक का मूल्य : पन्द्रह रुपए

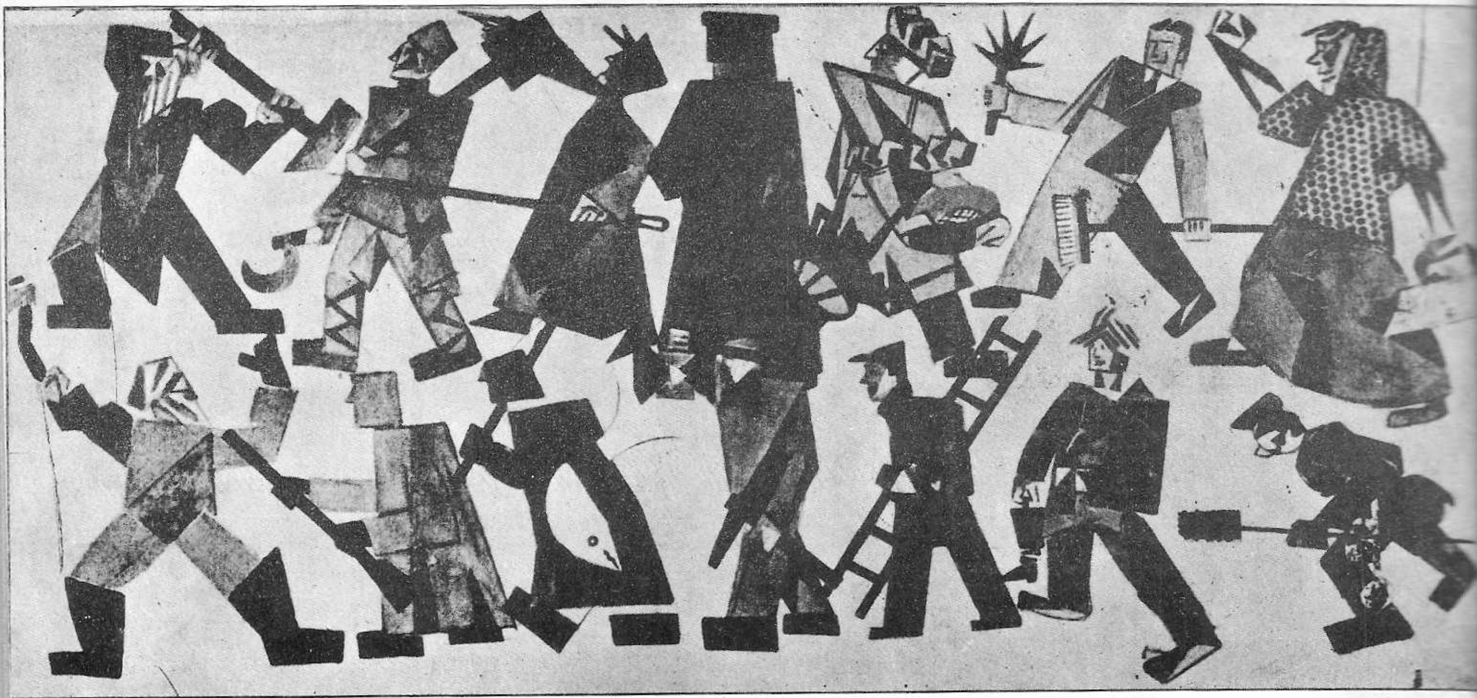

वास्तुकार हैं हम धरा के
इस ग्रह के सज्जाकार हैं,
हम हैं चमत्कारों के रचयिता।
सूर्य-रश्मियों को बांधकर
हम तैयार करेंगे दीप्तिमान झाड़ू
और आकाश से बादलों की सफाई करेंगे
बिजली से।
हम दुनिया की सारी नदियों को शहद सा मीठा बना देंगे
धरती की सड़कों पर चमकते तारों का खड़ंजा बिछा देंगे।
आज इन दरवाजों के पीछे भरे पड़े हैं
नाटक के साजो-सामान।
कल इस कूड़ा-करकट
की जगह लेंगी ठोस वास्तविकताएं।
हम इसे जानते हैं बख़ूबी
हमारा यक़ीन है इस बात में
और अब यह ख़बर
हम तुम्हें दे रहे हैं।
आओ, सभागार से बाहर
हमारे निकट आओ!
सब के सब इधर आओ!
अभिनेता, कवि, निर्देशक,
सभी इधर आओ!

व्लादीमिर मयाकोव्स्की